प्रकाशक
शिवनारायण मिश्र 'भिषग्रत्न'
प्रकाश पुस्तकालय,
कानपुर।

प्रथम संस्करण २, १९१८
द्वितीय संस्करण २, १९२६

मुद्रक—
भगवानदास गुप्त,
कमर्शल प्रेस, कानपुर।

निवेदन।

'प्रकाश-पुस्तक-माला' की इस ९ वी पुस्तक को हम अपने पाठकों के हाथ में रखते हैं। पुस्तक के विषय की उत्तमता पुस्तक के पढ़ने पर ही जानी जा सकती है।

यह हमारे देश के नवयुवकों को अपना कर्तव्य पूर्ण करने के लिए उत्तम और उच्च आदर्श बतलाती है। यदि भारतवासी प्रतिज्ञा और साधना के गुढ तत्त्वों का ज्ञान रखने वाले होजायँ तो बातकी बात में हमारा उद्धार होजाय। पुस्तक में वर्णित प्रत्येक सफलता-प्राप्त पुरुष के साधनों को देखिए; किस एकाग्रता, किस दृढ़ता और किस अध्यवसाय से उन्होंने अपने मनोर्थ को सिद्ध करने की चेष्टा की है और अन्त में उसे सिद्ध करके ही छोड़ा है।

'उद्योगी पुरुषो' नामक गुजराती पुस्तक के आधार पर यह पुस्तक लिखी गई है। मूल पुस्तक के सग्रहकर्ता श्रीयुत नारायण हेमचन्द्र नामक सज्जन हैं।

पुस्तक हिन्दी शालाओं के पाठयक्रम को ध्यान में रख कर लिखी गई है।

विनम्र—

प्रकाशक

के प्रयोग में आने वाले साधनों का अवलम्बन करना चाहिये । जो सरस्वती का साधक है, उसे भी एक प्रकार का साधन करना चाहिये । जो जाति के स्वतंत्रता रूपी महा मन्त्र का साधक है, उसे भी एक दूसरी प्रकार का साधन करना चाहिये । जो प्रभुत्व प्राप्त करने की इच्छा का साधक है, उसे भी एक तीसरे प्रकार का साधन करना चाहिये । गैलिलियो*, सर ऐज़क न्यूटन, शङ्कराचार्य्य, राणा प्रताप, हावर्ड,† क्रोमवेल, चैतन्य और राजा राममोहनराय तथा अन्यान्य जो सब ऊँचे दर्जे के साधक थे, उन का भी साधन एक दूसरे से भिन्न प्रकार का था। उन मे से किसी के हाथ में वीणा और किसी के हाथ में शंख था। कोई केवल फूल चुनता था । किसी ने केवल कॉटों को ही चुन कर उन्हीं से अन्त मे फूलों के समान कोमल गद्दी बनाई । किसी ने निरन्तर आँसू बहाये, और कितनों ही ने आँसुओं के मूल झरने को ही सुखा देने के लिए अपने हृदय को चीर डाला । परन्तु इस विभिन्नता में भी समता है। इस भिन्नता में भी उन के कितने ही नियम एक से दिखलाई पड़ते हैं। लेखक यहाँ सब प्रकार के

---

* इटली का अत्यन्त प्रसिद्ध ज्योतिषी था। इस ने पृथ्वी की चाल और अनेक ग्रह--नक्षत्रो की खोज की थी। इसी ने दूरबीन, थर्मामेटर और घड़ी के यन्त्रों का आविष्कार किया था । यह ईसवी सन् १५६६ में पैदा हुआ और १६४२ में मरा ।

† यह ईसवी सन् १७२७ में इगलेंड में पैदा हुआ और सन् १७९० में मरा। परोपकार इस का एक व्रत था । इस ने सारे इगलेंड में फिर कर जेलखानों की तकलीफ़ों को दूर करने में बहुत कुछ परिश्रम किया।

साधन का मूल सूत्र और उस के स्वरूप के साधारण नियमों को संक्षेप में लिखने की चेष्टा करेगा।

साधन का पहला अङ्ग उपदेश ग्रहण करना अथवा मन्त्र लेना है। कार्य्य करने वाले आदमी बहुत सोच विचार कर, बहुत देख सुन कर, अपने हृदय में बहुत तर्क वितर्क कर बाद को किसी मन्त्र की दीक्षा ग्रहण करते हैं। सोते-जागते, एकान्त मे बैठते अथवा मनुष्यों के समाज में जाते, सभी समय वे निरन्तर अपने उसी मन्त्र का जप करते रहते हैं। मन्त्र ग्रहण कर लेने पर उन के मन की स्थिरता और एकाग्रता बहुत कुछ बढ़ जाती है। जैसे नाविक घनी अँधेरी रात होने पर भी किसी एक ख़ास नक्षत्र के ऊपर दृष्टि रख कर समुद्र के अनन्त विस्तार वाले गर्भ को चीरते हुए चले जाते हैं, वैसे ही सच्चे साधक भी अपने मूल मन्त्र में अपने चित्त को लगा कर अनन्त विस्तार वाले गहरे संसार सागर को चीरते हुए आहिस्ते आहिस्ते आगे पैर बढ़ाते चले जाते हैं। किसी उद्देश्य को लेकर ही उनकी दृष्टि, उनका हँसना, उनका उल्लास, उनका आनन्द, उनका उत्सव, उनका भोग, उनका विलास, उनका श्रम और उनका विराम सब कुछ होता है। उनके प्रत्येक पग पर जीवन का एक एक कार्य होता है। उनकी चाल स्थिर होती है।

जिस समय इटली का कीर्तिवान, पर अल्पजीवी, रायेंज़ी रोम के, दुष्कर्म में लगे हुए नीच जातिवालों के

---

* यह चौदहवीं सदी में रोम में पैदा हुआ था। रोम में प्रजा का पक्ष लेकर इसने वहां साधारण प्रजा-शासन-पद्धति कायम करने के लिए

प्रमोद-गृह में बैठ कर हँसमुख विदूषक की तरह उनकी रोज़ की बातों से सन्तुष्ट होता, कभी हँसता, कभी हँसाता, कभी अपने को हँसने योग्य बना कर उनके मनको प्रसन्न करता, उस समय यदि कोई उसके हृदय में उसके इष्ट मन्त्र को पढ़ता तो अवश्य ही वह भय से काँपने लगता अथवा भक्ति से आश्चर्य करने लगता। मूर्ख लोग उसकी प्रसन्नता की लहरों को तमाशे की तरह समझते थे। पर, वह नित्य अपने मन्त्र का साधन करता था। मन्त्री कलवार्ट‡ चौदहवें लुई के सुवर्ण सिंहासन की एक बाजू में अत्यन्त मूर्ख की तरह खड़ा होकर हाथ जोड़े हुए राजा की आज्ञा पालन करता था। यदि पुराने राजकर्मचारी उसकी भद्दी, निस्तेज तथा रूखी मूर्ति को सूक्ष्म दृष्टि से देखते और जान सकते कि वह किस मन्त्र का जप कर रहा है, तो वे अवश्य ही उसे उसी क्षण मार डालते। अन्धी प्रजा उस में केवल रूप की बुराई भर देखती थी। पर, वह उस समय गुण का, पराक्रम का, एक अद्भुत महल तैयार करने में रात दिन

बहुत कुछ उद्योग किया था। इसी लिए प्रजा इस के वश में हो गई और उसने उसे राजा की शक्ति देकर रोम के ट्रिब्यून अर्थात् राज्य चलाने के पद पर नियुक्त किया। इसने स्वदेश के मङ्गल करने के लिए अपने प्राण त्याग कर संसार में प्रसिद्धि पाई। यह व्याख्यान द्वारा लोगों को समझाने में बड़ा चतुर था।

‡ ईसवी सन् १६१९ में स्काटलेंड में इसका जन्म हुआ था। इसने अपने असाधारण बुद्धि-बल से अत्यन्त सामान्य पद से धीरे धीरे फ्रांस के राज-मन्त्री मेजेरिन की कृपा प्राप्त कर अन्त में मन्त्री का पद प्राप्त किया। ईसवी सन् १६८३ में इस की मृत्यु हो गई।

लगा हुआ था। जब वीरश्रेष्ठ बोनापार्ट, जोसिफिन के मृणाल जैसे कोमल हाथों को पकड़ कर पेरिस में उस समय के राज्य के कर्ता धर्ता प्रसिद्ध बैरास* के घर में हर्ष से नाचता था, यदि कोई उस समय उस के भीतर के मन्त्र की धीमी आवाज़ सुन सकता तो वह निश्चय ही घबड़ा कर मर जाता। लोग समझते थे कि वह नाचना सीख रहा है। पर, जिस ताल से सारा यूरोप एक समय भयानक रूप से नाच उठा था वह उसी ताल का अभ्यास कर रहा था। पृथ्वी पर जो लोग कार्य कर गये हैं, उनका इसी प्रकार का एक मुख्य मन्त्र था। वे अपने मन्त्र के बल से पृथ्वी को स्वर्ग जैसा बना गये हैं। स्वर्ग की सारी शोभायें और सम्पत्तियां उन्होंने पृथ्वी पर लाकर फैला दी हैं। मृतदेह मे जीवन डाल दिया है। मिट्टी के पुतलों और खेलने की वस्तुओं को इन्होंने सजीव कर दिया है।

जो मन्त्र की दीक्षा नहीं ग्रहण करता, उसका समस्त कार्य निष्फल होता है। उसका जीवन बिना मतलब का हो जाता है। उसकी गति तूफ़ान में पड़े तिनके जैसी हो जाती है। वह किसी समय उत्तर की ओर जाता है, तो किसी समय दक्षिण की ओर; कभी पूर्व की ओर तो कभी

---

* बैरास फ्रांस के बलवे के समय प्रजा-तन्त्र का एक अधिपति था। पहिले नेपोलियन बोनापार्ट के साथ बड़ी मित्रता थी। अन्त मे वह मित्रता टूटी और नेपोलियन ने उस की बड़ी बेइज्जती की। कुरिन बैरास के घर में रहती थी। नेपोलियन से उस की वहीं जान पहचान हुई और अन्त में शादी हुई।

पश्चिम की ओर पहुंचता है। उसका मन्त्र सिद्ध नहीं होता। मन्त्र के साधन बिना उसका कोई भी कार्य्य सिद्ध नहीं हो सकता। खाने के समय वह खाता है, सोने के समय सोता है। कोई जगाता है तो वह थोड़ा सा जागता है, अथवा सोता ही रहता है। कोई नहीं जगाता तो वह उसी तरह पडा रहता है। लोभ और इच्छा उस के पास नही फटकते। वास्तव मे लोभ प्रवृत्ति का दास है, प्रवृत्ति के साथ चलने वाला है। इच्छा स्वामिनी है। वह प्रभाव-शालिनी है। लोभ प्रवृत्ति के उत्तेजन से उत्तेजित होता है। प्रवृत्ति निद्रावस्था में सोती रहती है। इच्छा अपनी शक्ति से ही उत्तेजित होकर, प्रवृत्ति पर सर्वथा अपना अधिकार जमाती है। वास्तव में इच्छा एक बड़ी शक्ति है। जो मन्त्र से दीक्षित है वे लोभरहित परन्तु इच्छावान् है। उन की इच्छा गहरी, दीर्घ और लक्ष्य वाली होती है। उनकी बुद्धि, उनका हृदय और सब प्रकार की उनकी मानसिक वृत्तियां सम्पूर्ण रूप से उनकी इच्छा के अधीन होती है। जो लोग ऊपर लिखी हुई रीति के मन्त्र से रहित होते हैं वे इच्छाहीन, किन्तु लोभयुक्त होते है। उनकी सारी मनोवृत्तियां भिन्न भिन्न रूप से काम करती है। कोई किसी का आधिपत्य नहीं मानती। उनके मन में इच्छा का दिखाव अवश्य प्रकट होता है। पर वह दिखाव स्थाई नही होता, और न किसी लक्ष्य पर ही पहुंच सकता है। इस से ऐसे मनुष्य को कुछ भी फल प्राप्त नहीं होता।

साधना का दूसरा अङ्ग अपने मन्त्र को गुप्त रखना है।

मन्त्र का गुप्त रखना मन्त्र की सिद्धि प्राप्त करने में कैसा सहायक है यह सरलता से समझना कठिन है । पर जो कल्पना के प्रमोद बन में न फिर कर मनुष्य जाति के कांटे वाले कठिन मार्ग पर चले है, जो मानवी प्रकृति के बाहर के आँगन में हमेशा मूर्ख की तरह नहीं खडे रहे है किन्तु विचार की सरलता से उसके अन्तःपुर में प्रवेश कर सके है, वही उसे समझ सकते है । वही बारंबार ऐसा उपदेश देते हैं कि जो मन्त्र साधक के हृदय में कुएँ में डाले हुए लोहे के टुकड़े की तरह छुपा रहता है, वही सच्चा मन्त्र है । जो बात एक कान से जाकर दूसरे कान में, दूसरे से तीसरे में और तीसरे से हज़ारो कानों में जाती है, उस बात से कार्य नही सिद्ध होता । इस लिए मन्त्र कदापि बात में न आवे, इसके लिए यत्न करना अत्यन्त आवश्यक है ।

ईसामसीह ने कहा है—"तुम्हारा दाहना हाथ क्या काम करता है, यह तुम्हारा बायां हाथ न जान सके ।" वर्तमान समय में यूरोप के ईसाईयों ने दान आदि के सम्बन्ध में इस आज्ञा का पालन न करके भी अपने लक्ष्य के मन्त्र को छुपा कर अक्षरशः उसका प्रतिपालन किया है और सिद्धि प्राप्त की है । बर्लिन की कठोर राजनीति सिर्फ मन्त्र को छिपा रखने की महिमा से और बाहुबल से ही अभिमानी फ्रांस वालों को पैर के नीचे कुचल सकी थी । रूस वाले मन्त्र को छुपा रखने में बड़े दक्ष थे । इसी लिए बहुत से पड़ोसियों को वे हमेशा दाब में रखने में समर्थ हुए थे । रोम का वर्तमान राज्य मन्त्र को गुप्त रखने ही के कारण पुनः रोम को उत्तम दशा में पहुंचा सका है । इसी प्रकार मन्त्र को गुप्त रखने से ही ब्रिटेन

वाले भी एशिया और अफ़रीका के विशाल राज्यों पर अधिक प्रभाव जमा सके है।

इस प्रकार की दन्त कथा प्रचलित है कि प्रसिद्ध विद्वान पिथागोरस* अपने शिष्यों को पाँच वर्ष तक गूंगे रहने की आज्ञा देता था। जो इन पाँच वर्षों तक सज्जनता के साथ मौन व्रत का पालन कर सकता था, उसे वह अपना शिष्य बना कर शिक्षा देता था। जो इसमें समर्थ नहीं होता था, वह उसके पास से चला जाता था। मोटी नजर से देखने वाले पुरुष पिथागोरस के इस कड़े नियम की चाहे जैसी निन्दा करें, पर ऐसा करने में पिथागोरस का एक बड़ा गहरा प्रयोजन था। मौन रहने से मन का चिंतवन होता है मौन रहने से गम्भीरता आती है, मौनव्रत पालन करना चित्त को संयमी बनाने की पहली सीढी है। कितने ही दुर्बल मन के मनुष्य बिना प्रयोजन ही मन्त्र के भीतर का छुपा हुआ रहस्य अथवा किसी सम्प्रदाय के छुपे हुए मन्त्र को ज़ाहिर कर देते है, इसका कारण क्या है? बात यह है कि जो पतला है वह लघु होता है वह भार सहन करने की शक्ति नही रखता। वह लौकिक यश के पाने की लालसा रखता है। वह अथाह जल में रहने वाली 'रावत' मछली की स्थिरता, एव अटल बने रहने में कैसी महत्ता है, यह नही समझ सकता। जिस का हृदय छोटी जाति की मछली की तरह थोड़े ही पानी में रह कर सुख का अनुभव करता है, वह कार्य

---

* पिथागोरस प्राचीन समय का एक ग्रीक विद्वान् था। इसके अनेकों शिष्य थे। यह ईसवी सन् से ५७० वर्ष पहले पैदा हुआ था।

पूरा होना तो दूर रहा, कार्य के आरम्भ न करने के पहले ही से फल भोगने की प्रशंसा सुनने के लिए अधीर हो जाता है। स्त्री जिस तरह दूसरी स्त्री के गले से लिपट कर बिना प्रयोजन ही अपने मन के सुख दुःख की बातें करके आनन्द का अनुभव करती है, उसी प्रकार वह भी देश की उन्नति अवनति और समाज की उत्पत्ति और प्रलय की भयंकर बातें करके आनन्द मनाने की इच्छा रखता है। दूसरों को आँखों से देखने की वह हमेशा इच्छा रखता है। वह दूसरों की दृष्टि का ही आसरा रखता है। प्रसिद्ध विद्वान् रिशिलू इस प्रकार के पुरुषों को पुरुष शरीर में स्त्रियां कहा करता था। हम भी ऐसे पुरुषों को स्त्रियों जैसा ही मान कर दया की नज़र से देखते हैं। इन पर जितनी इच्छा हो उतनी श्रद्धा और प्रीति करो, इसमें किसी को कोई हानि नही। आमोद के समय इन्हें मित्रों की तरह ग्रहण करो, इसमें भी किसी को कोई दुःख या बुराई नहीं। पर, मंत्र के स्थान में इन्हे कभी मत बुलाना। क्योंकि जो मंत्र की रक्षा नहीं कर सकता वह स्वभाव से ही असफलता प्राप्त करता है।

साधन का तीसरा अङ्ग उत्साह अथवा मंत्र में पूर्ण रूप से लग जाना है। चौथा अङ्ग उद्यम अर्थात् मत्र का प्रयोग करना है। पाँचवा अङ्ग आत्म-त्याग, प्राण अर्पण अथवा मत्र के लिए आहुति देना है। छठा अङ्ग दृढ़ता अर्थात् मंत्र की शक्ति में निर्भयता है। अतिम अर्थात् सातवां अङ्ग पूर्ण रूप से सहनशीलता अथवा मंत्र से पवित्र हुई आंखों के द्वारा समय की राह देखना है। ऊपर के पाँच अङ्ग साधन के प्राण है। उनके मिश्रण से मनमें एक प्रकार की अपूर्व अवस्था

उत्पन्न हो जाती है। भाषा उस अवस्था का पूर्ण रूप से वर्णन नहीं कर सकती।

कौन कहता है कि मनुष्य दुर्बल है? कौन कहता है कि रोग मनुष्य की शक्ति को कम करता है, शोक मनुष्य को जलाता है, वृद्ध होने पर जरा आकर मनुष्य को गला जाती है और दुःख ग़रीबी और अन्य अनेक प्रकार की दुर्घटनाओं से उसकी आत्मा दुःखित हो जाती है? जिसके हृदय में उत्साह का उत्तेजन नहीं, आत्मा में स्फूर्ति अर्थात् चेतनता नहीं उसके लिए तो यह सब कुछ अवश्य हो सकता है। वह बिना रोग के ही रोगी रहता है, बिना वृद्धावस्था के ही जरा-जीर्ण और बिना शोक अथवा दुःख की मार के ही हमेशा म्लान, दुखी और निकम्मा बना रहता है।

जो मंत्र के शक्ति-मद से उत्साहित है, उसकी बात अलग है। वह कभी भी वृद्ध नहीं होता, कभी जीर्ण नही होता और जीवन के अंतिम समय में भी वह उत्साहहीन और बिना उद्यम का होकर दूसरों को मनुष्यजीवन की असारता नहीं दिखलाता। उसके हृदय की नसों में एक न कह सकने योग्य तेज की धारा बहती है। यह धारा उसकी हर एक नस में वेग से आती जाती है और जब वह शरीर को छोड़ देती है, हाथ पैर उसके शिथिल पड़ जाते है, तब भी उसे वह धारा एक आश्चर्यमय प्रभाव से युवा की तरह सजीव रखती है।

वाशिंगटन * अत्यन्त वृद्धावस्था में भी जब अपनी

* यह एक सेनापति था। इंगलैंड और अमेरिका में जब बड़ी भारी लड़ाई हुई थी और अमेरिका स्वतंत्र हो गया था उस समय

जाति का भविष्य सोचता था तब उसके तेजहीन नेत्र चमकने लगते थे । उसका उत्साह और उद्योग निद्रावस्था में भी उसका साथ नहीं छोड़ता था । डेनियल ओकोनेल* जिस समय जीवन और मृत्यु के बीच में खड़ा था, आयरलैंड का भला करने के लिए जिस समय उसकी इच्छा थी उस समय उसका मन हृदय की तरगों में हिलोरें खाता था और उसकी पवित्र जिह्वा से उस समय भी एक दो वाक्य आग की चिनगारियों की तरह निकल कर हज़ारों हृदयों में एक भयानक ज्वाला की तरह जलने लगते थे । निरुत्साह किसे कहते है, हमबोल्ड× यह कभी नहीं जानता था । जिस समय दूसरे लोग वैराग्य का भजन करते है, विषयों से वीतराग होकर हमेशा लम्बी साँस खींचते हुए समय को व्यतीत करना चाहते हैं अथवा गई गुज़री बातों को याद कर पुरानी बातों से खुशी अथवा रंज में पड़ते हैं, उस समय भी जवानी

वह अमेरिका का सेनापति था । लड़ाई के बाद वही 'यूनाइटेड स्टेट्स का सब से पहला सभापति बनाया गया था । वह ऐसा अच्छा था कि अमेरिका के लोग उसे पिता की तरह मानते थे । ईसवी सन् १७३२ में उसका जन्म हुआ था और ईसवी सन् १७९९ में मृत्यु ।

* ईसवी सन् १७७५ में आयर्लैंड में इसका जन्म हुआ और ईसवी सन् १८४७ में मृत्यु । इसके प्रयत्न से बहुत दिनों बाद आयलैंड की इंगलैंड के अन्याय और जुल्म से भली भाँति रक्षा हुई । यह प्रसिद्धवक्ता था ।

× यह जर्मनी का एक प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता था । ईसवी सन् १७६९ में इसका जन्म हुआ और १८५९ में मृत्यु ।

के नये जोश मे रह कर वह ज्ञान का साधन करता था और क्षण क्षण मे कुछ न कुछ नई बात पाने के लिए वह बहुत ही उत्कण्ठित रहता था। लार्ड पामर्सटन * जिस समय आँख खोल कर देखने का कष्ट अनुभव कर रहा था, उसी समय रूस के कितने ही मनुष्य जा कर उसकी सलाह का मर्म जानने की कोशिश करते थे। प्रसिद्ध दीर्घजीवी थियारे† ने उड़ते हुए कौवे की तरह दीर्घ आयु के द्वारा फ्रांस को राज्य-क्रान्ति का भूकम्प देखा था। वह पहले नेपोलियन के विजय के बाजे से नाचा था। तीसरे नेपोलियन को चाचा के सिंहासन पर बैठा हुआ देख कर तालियां बजाई थीं। उसी के दिनों में सीडान की विपत्ति पड़ी थी। इसके अनन्तर पेरिस में लोहूलुहान हुआ उस समय उसने वहां का सारा दृश्य देखा था और देश के कार्यों में योग दिया था। अन्त में वह बहुत दिनों तक जीवित रह कर स्वदेश की सेवा करता रहा। अपने कामों को करता हुआ वह संसार को अपना उत्साह दिखा गया। ब्रिटिश राजघराने का मुखिया

---

* इंगलैंड का एक राजमन्त्री था। सन् १७८४ में पैदा हुआ था। प्रसिद्ध मन्त्री ग्लेडस्टन इसका शिष्य था।

† यह फ्रांस का प्रसिद्ध वक्ता था। प्रसिद्ध लेखक और अत्यन्त प्रसिद्ध राज कर्मचारी था। ईसवी सन् १८७० में जर्मनी के साथ फ्रांस की लड़ाई बन्द होने पर यह फ्रांस का अध्यक्ष बनाया गया। इसके यत्न और राज काज करने की होशियारी से फ्रांस जाति ने जर्मनी का दो सौ करोड़ रुपये का कर्ज चुकाया। थोड़े वर्षों बाद वह मर गया।

डिज़रायली ‡ वृद्धावस्था में पूर्ण रूप से जकड़ गया था। पर ब्रिटिश जाति का प्राण उसके उत्साह से सफल हुआ था। अस्सी वर्ष का बूढ़ा ग्लेडस्टन जो होमरूल के लिए छलाँगें भरता था, उसी के योग से आयलैंड के मनुष्य कैसे उत्साहित हो रहे थे और ब्रिटेन का प्रताप उसी के प्रभाव से तेजी से चलता था। साधक का उत्साह और उद्यम सर्वत्र और सब समय एक ही सा होता है। यह प्रवाही अग्नि जैसा है जो इसे बुझाने अथवा इसकी गति को रोकने जाता है वह स्वयम् ही उसमें पड़ कर जल भुन कर मर जाता है।

साधकों का आत्मसमर्पण इससे कहीं बढ़ कर आश्चर्य जनक है। उनके लिए आत्मसमर्पण ही यथार्थ आराधना होती है। भक्त जिस तरह अपने इष्टदेव के चरणकमलों में अपने आपको पुष्पाञ्जलि की तरह समर्पण करके उन्हीं में विलीन होजाने की इच्छा रखते है, साधक भी उसी तरह शरीर, मन, प्राण और अपना सर्वस्व अपनें आराध्य मंत्र में आहुति की तरह अर्पण कर अपना भिन्न अस्तित्व भी उसी में डाल देते हैं। उस समय वे उसी के स्वरूप अर्थात् तन्मय हो जाते हैं। सुख उस समय उन्हें सुखी नही करता। प्रशंसा की मधुर और सुहावनी वायु भी उस

---

‡-इगलेड का राजमत्री डिजरायली—इसकी नई पदवी लार्ड वेकन्सफील्ड थी। इसके पूर्वपुरुष यहूदी थे। यह इगलेडवासी होकर अग्रेज हो गया था। यह असाधारण बुद्धिमान था। कहा जाता है कि उसने बचपन में अपने साथियों से झगड़ा करके कहा था कि मैं एक दिन इंगलड का राजमंत्री हूंगा।

समय उनके चित्त को अपनी ओर नहीं खींच सकती। उनका मन, स्नेह और ममता के मायाजाल में नहीं फँसना चाहता। उस समय वे अच्छी तरह से जीवित और इसी कारण से अच्छी तरह से मृत होते हैं। अथवा अच्छी तरह से मरे हुए और इस कारण से अच्छी तरह से जीवित रहते हैं। वाल्मीकि के अस्थिपंजर से भी जिस तरह राम-नाम निकलता था, उसी तरह उनके मर्मस्थानों से भी केवल एक ही नाम निकलता है। उनका ग्रहण किया हुआ मंत्र चाहे जैसा कष्टसाध्य हो, पर आत्मसमर्पण के सुन्दर बल से वह उस समय सरलता से सिद्ध हो जाता है।

काव्यों और पुराणों में जिनका वर्णन देखने में आता है, वे प्राचीन साधक जाड़ों में बर्फ से ढँके रहते थे। बड़े तेज़ ग्रीष्म में चारों ओर आग जला कर बीच में बैठे रहते थे। कितने ही अपनी आंखों को भी सिद्धि प्राप्त करने के लिए अयोग्य समझ कर फोड़ डालते थे। कितने ही अन्य प्रकार से मन को रोकने में समर्थ न होकर जीभ अथवा हाथ पैर वगैरह को अलग करने में भी कुछ संकोच नहीं करते थे। उन के कार्य्य उचित थे या अनुचित, इसका विचार इस समय अनावश्यक है। साधारण तौर से कहा जा सकता है कि प्रकृति का विरोधी होना अच्छा नहीं। पर, जो साधन में अपने आप को होम देना चाहते हैं, उन्हें त्याग और आत्मनिग्रह ही पूरी सहायता देते हैं। जो त्याग करने में डरते हैं, जो आत्मनिग्रह करने में सकुचित होते हैं, उनके मत से सतयुग में भी किसी से कुछ नहीं होता था, और, किसी अन्य युग में भी किसी से कुछ न होगा।

तुम ज्ञानी हो, तुम सरस्वती के साधक हो, अतएव तुम्हें सुख का लालच क्यों होना चाहिये ? यदि तुम ज्ञान के निर्मल आनन्द की अपेक्षा संसार की प्रसिद्धि प्राप्त करने के अधिक इच्छुक हो, अपनी आराध्यशक्ति की प्रसन्नतापूर्ण दृष्टि की अपेक्षा, भोगविलास के आनन्द के लिए अधिक अधीर हो तो तुम्हे फिर साधन किस लिए करना चाहिये ? तुम प्रेमिक हो, तुम भौतिक वैभव के लिए लालची हो, इस वणिक-व्यवहार पूर्ण संसार में लोग स्वप्न में भी स्वार्थ के सिवा और कुछ नहीं देखते किन्तु तुम ज्ञान के अगम्य और अक्षेय धन के लिए सर्वदा तृषित रहते हो, इस दशा में तुम्हें धन, मान, और हानिलाभ की गिनती क्यों करनी चाहिये ? मान लो तुम अपने देश के सेवक, अपनी जाति के बन्धु हो तो तुम प्रत्येक कार्य्य का परिणाम सोचने के पहले अपने परिणाम का विचार क्यों करते हो ? देशहित के व्रत में व्रती होकर प्रत्येक क्षण अपने हित के व्रत में आगे क्यों जा पड़ते हो ? इस प्रकार तुम अपने भाइयों में स्वतंत्रता का पवित्र नाम लेकर, धीरे धीरे परतन्त्रता का विषमय फल उपजाते हो। तुम दूसरों को स्वर्ग की शोभा दिखाने के लिए स्वयं नरक में जा डूबो।

तुम अग्नि-कुण्ड में अपने आपको भस्म कर दो अथवा न करो यह दूसरी बात है। पर, यदि तुम ज्ञान चाहते हो, प्रेम चाहते हो, अथवा अपनी जाति की उन्नति चाहते हो तो पहिले अपने आपको बलिदान कर अपने पास जो कुछ हो उसे दूर फेंक दो। साधक की तरह क्रूस* की लकड़ी पर अपने

---

*मतलब यह कि जिस तरह ईसामसीह ने मनुष्य जाति के मगल

आप का लटकाओ। इसके अनन्तर सिद्धि के कल्प-वृक्ष से अपने इच्छानुसार फल तोड़ लो। राजा जनक योगी नहीं हो सके, वे अपने कर्मकाण्डों को बहुत चाहते थे। सुलेमान* ज्ञानी नहीं हो सका क्योंकि वह ज्ञान की अपेक्षा सुख भोगने की अधिक इच्छा रखता था। एबिलाड † प्रेमी नही बन सका वह प्रेम की अपेक्षा अपने आपको अधिक समझता था। रोब्सपियरी‡ अपनी जाति का मित्र नहीं बन सका वह देश की स्वतन्त्रता और गौरव की अपेक्षा अपनी स्वतन्त्रता और गौरव के लिए अधिक आतुर था। इनमें से किसी ने भी आत्मसमर्पण नही किया।

उद्योगशील होना ऊपर लिखे हुए सब प्रकार के साधकोचित धर्म्मों का आधार है। यह स्वास्थ्य में अमृत है, यह रोग मे ओषधि है और यही मरे पड़े हुए के लिए सहारा देने वाली लकड़ी है। यदि यह संसार समुद्र कहा जाय तो उद्योगशीलता उस पर तैरनेवाली नाव कही जा सकती है। यदि साधन को एक प्रकार की जलती हुई आग कहें तो अध्यवसाय अथवा उद्योगशीलता ही उसको उद्दीपित करने वाली है। साधक के हृदय का भाव जब हीन शक्ति वाला हो जाता है तब अध्यवसाय ही उसे आश्रय देकर मज़बूत कर

के लिए क्रूस की लकड़ी पर लटक कर अपने प्राण दिए, उसी प्रकार तुम भी अपने प्राण दो।

* सुलेमान यहूदियों का राजा था। यह बड़ा ही शक्तिशाली और प्रकांड ज्ञानी प्रसिद्ध था।

† यह फ्रांस में एक अलंकारिक व्यक्ति हो गया है। इसने हिलोइसी नामक एक प्रसिद्ध स्त्री के प्रेम के वशीभूत होकर अन्त मे अपने सम्मान की रक्षा के लिए उसकी बहुत विडम्बना की।

‡ फ्रांस की प्रसिद्ध राज्यक्रांति के समय यह वहाँ का

देता है। यदि साधक का अध्यवसाय ही बुझ रहा हो तो अध्यवसाय ही फिर उसे प्रज्वलित कर सकता है। उसका अध्यवसाय उद्योगशीलता, भीष्म की प्रतिज्ञा के समान होती है। सृष्टि भी यदि लौट जाय तो भी वह निष्फल नहीं होती। वह साहस का सार है। भय भी उसे किसी प्रकार से विचलित नहीं कर सकता।

अपना इच्छित संकल्प प्रथम प्रयत्न से ही सिद्ध हो जायगा, ऐसी आशा किसी को कभी भी न करनी चाहिए। पहिली ही सीढ़ी पर जिसका पैर रपट जाय, अथवा पहिले ही विघ्न से जिसका उद्यम, आशा और व्रत सब नष्ट हो जायँ, उससे कभी किसी प्रकार की भी कठिन साधना नहीं हो सकती। इसलिए अध्यवसाय अर्थात् उद्योगशीलता से काम करने की ज़रूरत है। सामर्थ्य क्या वस्तु है? अध्यवसाय ही वास्तव मे सच्चा सामर्थ्य है। पहिले निर्बल बालक दूर खड़ी माता के आशा रूपी मधुर हास्य से उत्साहित होकर धीरे धीरे खड़ा होना सीखता है। उसका दुर्बल शरीर कितनी ही बार ज़मीन पर गिर पड़ता है, कितनी ही बार कष्ट पाता है पर, वह इसकी कोई परवाह नहीं करता है। धीरे धीरे बढ़ते जाने से सम्भव है कि एक दिन उसी बालक के शरीरभार से पर्वत भी कम्पित हो। एक छोटा सा पत्थर भी उसके सामने इस समय हिमालय की तरह है, पर, उसमें यदि अध्यवसाय हुआ तो सम्भव है कि एक दिन उसके कमल जैसे कोमल हाथ पिरामिडों (मिश्र के एक प्रकार

एक प्रभावशाली नेता बड़ा ही निष्ठुर, प्रभुता-प्रिय और दूसरों को पीड़ा देने वाला था। ईसवी सन् १७५८ में यह फ्रांस मे पैदा हुआ था, और कितने ही शत्रुओं के दांव पेच से ईसवी सन् १७९४ में मारा गया।

के स्तूप) तक को भी गिरा सके। वास्तव में अध्यवसाय अर्थात् उद्योगशीलता की बराबरी नहीं हो सकती है। अध्यवसाय विघ्न विपत्तियों को दूर रखता है, समुद्र को सोख लेता है और हज़ारों प्रकार के भय, वज्रपात तथा घनघोर आँधी में भी बिना हिले डुले बर्फ से ढके हुए पर्वत की तरह निर्भीक और निश्चल रह कर अपने मंत्र को अपने आप सिद्ध कर लेता है।

सहनशीलता एक और वस्तु है। यह उद्योगशीलता के ही समान है। पर, सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह उससे भिन्न भी है। साधारणतः सहनशीलता का अर्थ क्षमा है। सहनशीलता का अर्थ कोमलता है। कोई तुम्हारा तिरस्कार करे तुम उसके बदले उसका तिरस्कार न करो। कोई तुम्हारे सिर पर थप्पड़ मारे तो भी तुम उससे कुछ भी न कहना चाहो, ऐसा करने पर लोग तुम्हें सहनशील कहेंगे। परंतु सहनशीलता का सच्चा अर्थ समय की प्रतीक्षा करना है। जिस काम में यश नही है, शीघ्र सुख भी जिससे नहीं मिल सकता, और सामने किसी आशा की भी जिसमें उत्तेजना नही, जिसमें अभी किसी प्रकार की सहायता भी नहीं और सौ वर्ष बाद भी जिसमें सफलता की सम्भावना नही, ऐसे कार्य में अपने तन मन को लगा कर हम तत्पर रहें तो हमारे लिए यही सच्ची सहनशीलता है। जो ऐसी सहनशीलता को अपने हृदय मे रख कर पोषण करें और भविष्यत् के गहरे अन्धकार को चीर कर समय की तरफ देखते रहें वही साधक है, वही सच्चे पुरुष है।

प्रकृति की सहनशीलता देखो, आज बड़ा भारी बरगद का जो वृक्ष हज़ारों पक्षियों को आश्रय देता है, हज़ारों

ताप से पीड़ित मनुष्यों को शीतल करता है, एक समय वह एक छोटे से छोटा बीज मात्र था। प्रकृति ने धीरे धीरे उसे ऐसा बढाया है। आज जो कठिन पृथ्वी असंख्य जीव-जन्तुओं के रहने की जगह बनी है और ग्रामों और नगरों की शोभा दे रही है, एक समय वह एक रेत का दाना भर थी। प्रकृति ने रेत के दाने के साथ दाना जोड़ कर धीरे धीरे यह आश्चर्यमयी दीवाल बना पाई है। आज जो लम्बे चौड़े पाटों वाली नदी लाखों प्राणियों को जिला रही है और सारे देश के सुख और सौभाग्य का भार धारण कर गर्व से बह रही है, एक समय वह अत्यन्त सूक्ष्म चाँदी की एक लकीर मात्र थी। प्रकृति ने धीरे धीरे उस लकीर को ऐसा कर दिया है। कहना न होगा, युगान्तर होने पर जो विप्लव होगा, जिस विप्लव से कितने ही इधर उधर हो जाँयगे, कितनों ही का नाश हो जायगा, वह विप्लव या तो प्रलयकालीन समुद्र की अन्धकार से पूर्ण तरङ्ग मालाओं की तरह भयङ्कर आवाज़ से गरजेगा, या काल की सर्वसंहारिणी मूर्ति मे ससार की सुन्दर और कुरूप, स्थिर और अस्थिर, चल और अचल वस्तुओं को लेकर रमण करेगा। जिसका श्वासोच्छ्वास अनन्त खड्गों की धारों का तरह अनन्त ज्योति में स्फुटित और प्रकाशित होता रहेगा, प्रकृति अभी धीरे धीरे बढ़ कर उसी की शक्ति का संचय कर रही है। चुपचाप क्रमशः वह उसी के लिए एक एक को ज़ंजीर में जोड़ रही है। इसे कोई देखता नहीं है, देखने पर भी समझता नहीं है। इस प्रकार से उस विप्लव के उपकरणों के संग्रह करने में प्रकृति का जो अंश लगा हुआ है वही सहन-शीलता है। इस प्रकार जब अनन्तशक्ति भी साधन के व्रत मे व्रती

होकर सहनशील हो रही है, तो मनुष्यों को क्या असहन-शील होना चाहिए ?

हाय ! जिस देश में बाचालता की धीरे धीरे वृद्धि हो रही है और साधना धीरे धीरे लुप्त होती जाती है, उस देश में सिद्धि कैसे होगी ? जिस देश में प्रत्येक मनुष्य सैकड़ों मंत्रों की दीक्षा लिए हुए है, पर मंत्र की रक्षा करना कोई नहीं जानता, जहाँ एक दूसरे से ईर्षा करना और बड़ाई प्राप्त करने का नाम उत्साह है, होहल्ला मचाने का नाम उद्यम है, धूमधाम कर हवा खाने का नाम आत्मोत्सर्ग और निश्चल निद्रा का नाम अध्यवसाय और उद्योग-शीलता है, वहाँ उन्नति की आशा कैसे की जाय ? जो प्रातः काल सूर्य के उदय के समय जिस कार्य की कल्पना करते हैं शाम होते ही उसके फल को प्राप्त करने के लिए आतुर हो जाते हैं, मूछें निकलने के पहले ही जीवन के सब कामों को जो पूरा करके कीर्ति के शिखर पर चढ़ बैठना चाहते हैं—कहने का तात्पर्य यह है कि जो घड़ी भर में ही किसी बड़े काम के पूरा करने की इच्छा करते हैं, उनसे भला क्या आशा की जा सकती है ? वे नहीं जानते हैं कि किस समय साधक का पुनः उदय होगा और किस समय साधना पुनः प्रारम्भ होकर अन्धकार को प्रकाशमय बना देगी।

अर्जुन

कौरवों के कुल गुरु द्रोणाचार्य्य ने अपने शिष्यों की शस्त्रविद्या में परीक्षा लेने के लिए एक दिन सबों को एक स्थान पर इकट्ठा किया। उन्होंने एक ऊँचे वृक्ष पर एक

कृत्रिम चिड़िया बैठा कर सबों से कहा—'तुम लोग उसे ताक कर तीर मारने को तैयार हो जाओ । मैं जब कहूंगा तभी तुम लोगों को उस पक्षी की आँख फोड़नी पड़ेगी।' यह कह कर उन्होंने सब से पहले युधिष्ठिर को सम्बोधन करके कहा—'बेटा, तुम उस पक्षी की आँख का निशाना लगाने को तैयार रहो। पर, जब तक मैं न कहूं बाण न छोड़ना।' युधिष्ठिर ने कहा—'जो आज्ञा।' इसके बाद द्रोणाचार्य्य ने पूछा—'युधिष्ठिर ! तुम क्या देख रहे हो?' युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—'हां, मैं आप को, अपने भाइयों को, वृक्षों को और उड़ते हुए पक्षियों को देख रहा हूं।' यह सुन कर आचार्य्य ने अप्रसन्न मन से युधिष्ठिर को दूर हटा दिया । इस के अनन्तर दुर्योधन, दुश्शासन, भीम, नकुल सब शिष्यों को उन्होंने एक के बाद एक को बुलाया और सबों से वही प्रश्न पूछा। सबों ने युधिष्ठिर के जैसे ही उत्तर दिये । अन्त में उन्होंने अर्जुन को बुलाया और उस से भी प्रश्न किया । अर्जुन ने उत्तर दिया—'महाराज, मैं तो केवल पक्षी की आंख भर देखता हूं और कुछ भी नहीं देखता हूँ।' यह सुन कर आचार्य्य ने सन्तुष्ट मन से अर्जुन से बाण चलाने के लिए कहा। अर्जुन ने बाण चला कर पक्षी की आँख फोड कर उसे नीचे गिरा दिया।

इस के अनन्तर द्रोणाचार्य्य सब को सम्बोधन कर के बोले— 'देखो, जो काम करना चाहो, उस में दृढ़ रूप से अपना मन लगाओ। मनको दृढ़ता के साथ काम में लगाने से मन की एकाग्रता पैदा होती है । एकाग्रता पैदा हो जाने से मन में उस समय उस कार्य के सिवा दुनियां की और कोई बात नहीं आ सकती । यदि मन की किसी काम में

ऐसी एकाग्रता हो जाय तो वह काम अवश्य होता है। अर्जुन पक्षी की आँख पर ध्यान लगा कर एकाग्र मन से इस काम में तन्मय हो गया था। इसी कारण उसे और कुछ भी नहीं दीख पड़ता था। इसी से उसने सहज में ही उस पक्षी की आंख फोड़ डाली। तुम सब लोग ऐसा न कर सके। इस का यही कारण था कि आँख के साथ तुम लोगों के मन की एकाग्रता नहीं हो सकी थी। एकाग्रता न होने का कारण यही है कि तुम लोगों का मन चंचल है। आंख का निशाना लगाते समय तुम्हारा मन कभी अच्छी तरह से स्थिर न हुआ था। यदि स्थिर होता तो कभी उस समय तुम अन्य वस्तुओं को न देख सकते।' अर्जुन का यह दृष्टान्त याद रख कर सभी को अपने अपने कार्य्यों में मन को एकाग्र करना सीखना चाहिए।

राबर्ट ब्रूस।

राबर्ट ब्रूस स्काटलैंड का राजा था। उस के समय में अंग्रेज़ उस के सामने बार बार लड़ने जाते थे। कई बार उसने अंग्रेज़ों को हटा दिया था। पर, इतने पर भी वे उस का पीछा नहीं छोड़ते थे। इसी कारण अंग्रेजों और स्काटलैंड वालों में बड़ी शत्रुता हो गई थी। दोनों ओर के मनुष्यों में से जब एक दूसरे से मिलता तब एक दूसरे के मार डालने की चेष्टा करता था। राबर्ट ब्रूस ने बहुत सी लड़ाइयां लड़ीं इससे उसकी फौज धीरे धीरे कम होने लगी। अन्त में जब उसकी हार हुई तब वह स्काटलैंड से भाग निकला। यह ख़बर उस समय इङ्गलैंड के

राजा एडवर्ड को मिली। अतएव उस ने उसे पकड़ने के लिए चारों ओर अपने सिपाही भेज दिये।

राबर्ट ब्रूस लापता होकर फिरने लगा। अन्त में किसी जंगल में पहाड़ की एक गुफा में चुपचाप रहना उसने निश्चय किया। वहां वह थोड़े ही समय तक रह पाया था कि इतने में ही उसके शत्रु वहां भी आ पहुंचे। वह वहां से भी भाग निकला।

शाम को उसने एक टूटीफूटी झोपड़ी देखी। उस समय वह थक गया था अतएव उसने उसी में रहना निश्चय किया। उस समय उसके पास कुछ भी न था। उसका राज पाट चला गया था और वह मार्ग का भिखारी बन गया था। उस समय उसे केवल अपने जीवन की रक्षा ही को आ पड़ी थी। वह उस टूटी झोपड़ी में घुस गया। झोपड़ी में और कोई न था। बीच में घास का ढेर पड़ा हुआ था, उसी पर जाकर वह लेट रहा। तकिये की जगह उसने अपना हाथ रक्खा, पर उसे नींद न आई। सुबह के वक्त ज़रा से उजाले में वह झोपड़ी की दशा देखने लगा, साथ ही अपनी दशा पर भी बारबार विचार करने लगा। अपनी दशा सोच सोच कर वह बहुत अधीर हो उठा। वह मन में विश्वास करने लगा कि अब इस स्थिति से पहली स्थिति में पहुचना बड़ा मुश्किल है। मेरी फौज नष्ट-भ्रष्ट हो गई इसी प्रकार मेरी सारी सम्पति भी शत्रुओं के हाथ चली गई। अब किसी बात की आशा करना व्यर्थ है। ऐसे विचार कर ही रहा था कि उसने सामने एक मकड़ी को जाला बनाने में परिश्रम करते देखा। वह जाला बनाने के लिए एक लकड़ी पर डोरा डाल रहा

थी पर वह डोरा दोनों ओर नहीं पड़ता था; बार बार मकड़ी ने डोरा डाला पर वह या तो टूट जाता या लकड़ी पर न पड़ता। पर ऐसा होने पर भी मकड़ी न थकी। हर बार डोरा जगह पर पड़ जाता था, पर वह सुधरता नहीं था। मकड़ी बार बार आकर अपने जाल को ठीक करने का यत्न करती थी। अन्त में तेरहवीं बार वह जाला ठीक बन गया। यह देख कर राजा ने कहा कि तेरह बार तक इस छोटी सी मकड़ी ने यत्न किया और अन्त में अपने कार्य्य में सफलता प्राप्त की। इसका यह कार्य मुझे शिक्षा दे रहा है कि कभी अधीर न होना चाहिये। मैं एक बार फिर अपनी जन्म-भूमि के लिए यत्न करूंगा। उसमें यदि न सफल हुआ तो दुबारा अवश्य सफल होऊंगा। जिस प्रकार इस मकड़ी ने बार बार यत्न किया और अन्त में तेरहवी बार सफलता प्राप्त की उसी प्रकार जो मैं लगा रहूंगा तो अवश्य सफल हूँगा। यह निश्चय कर वह उठ खड़ा हुआ और झोपड़ी छोड़ कर अपने देश की ओर रवाना हुआ। शीघ्र ही वहां उसने अपने स्वामिभक्त मनुष्यों को इकट्ठा किया। वह उन्हें इकट्ठा करके पुराने किले में ले गया। इसके बाद और भी सिपाही भरती करके अंग्रेजों के सामने वह लड़ने चला। राजा एडवर्ड के सिपाहियों को उसने स्काटलेंड से भगा दिया और अन्त में पुनः स्काटलेंड की राजगद्दी पर बैठ कर राज्य चलाने लगा। उसके अन्त समय तक फिर कोई भी शत्रु उस पर न चढ़ सका।

देखो, एक मकड़ी ने किस प्रकार से एक मनुष्य को उपदेश दिया और उद्योग करने से अन्त में वह सफल हुआ,

इसी प्रकार कार्य्य से न हट कर उस में लगे-रहने पर वह अवश्य ही सिद्ध होगा, इसमे सन्देह नहीं ।

विलियम हेवर्ली ।

यूरोप के एक बड़े शहर में एक समय एक लड़का एक किताब बेचने वाले की दूकान में गया। लड़के के कपड़े फटे थे। वह बड़ा ग़रीब मालूम होता था। दूकान में जाकर लड़के ने पूछाः—'तुम्हारे पास क्या फलां का बनाया हुआ भूगोल है ?' दूकानदार ने उत्तर दिया—'हां, बहुत से हैं।' यह सुन कर लड़के ने पूछा कि उसकी क़ीमत क्या है ? दूकानदार ने उत्तर दिया— 'चार शिलिङ्ग।'* लड़के ने कहा – "मैं उसकी क़ीमत इतनी अधिक नहीं जानता था।' इतना कह कर वह जाने लगा और दूकान का दरवाज़ा खोल कर वह जा ही रहा था कि इतने ही में उसके मन में कुछ विचार पैदा हुआ। दरवाज़ा बन्द करके वह फिर से दूकानदार के पास आकर कहने लगा—'मेरे पास तीन शिलिङ्ग हैं।' ये तुम लेलो। बाक़ी एक शिलिङ्ग मैं फिर दूंगा, पुस्तक मुझे देदो। जल्दी ही मैं तुम्हारा बाक़ी एक शिलिङ्ग दे जाऊंगा।' यह कह कर वह खड़ा रहा। दूकानदार उसके कपड़ों की तरफ़ देख कर मन में सोचने लगा कि यह लड़का फिर पैसे कहां से लायेगा ? पोशाक से तो मालूम होता है कि यह ग़रीब है। इसे पुस्तक दे देने से फिर बाक़ी दाम न मिलेगा। यह सोच कर दूकानदार ने कहा—'मैं बाक़ी नहीं रखता। जो तुम्हारे पास चार शिलिङ्ग हों तो पुस्तक लेलो

*शिलिंग १२ आने के बराबर का इंगलैंड का सिक्का ।

नहीं तो मैं उधार नहीं देता। यह सुन कर लड़का दूकान से बाहर निकला। किताब बेचने वाले की दूकान में एक गृहस्थ किताब लेने के लिए पहले ही से खड़ा था। उसने लड़के और दूकानदार की बात सुनी और लड़के को जाते हुए देखा। वह भी लड़के के साथ हो लिया और रास्ते में जाकर उससे मिला। उस गृहस्थ ने लड़के से पूछा—'अब तुम क्या करोगे?' इसके उत्तर में लड़के ने कहा—'मैं दूसरी दूकान पर तलाश करूंगा।' यह सुन कर उस गृहस्थ ने कहा—'मैं तुम्हारे साथ चलता हूं। देखना चाहता हूं कि कैसे तुम सफल होते हो?' लड़के ने उत्तर दिया— 'अच्छी बात है, चलो।'

दोनों एक दूसरी दूकान में गये। वहाँ भी दूकानदार ने उधार देने से इन्कार किया। इसके अनन्तर पुनः एक और दूकान में गये। वहां भी वैसा ही उत्तर मिला। इसी प्रकार वे एक और दूकान में गये। पर वहां भी पहिले की भाँति साफ़ उत्तर मिला। हर दूकान से पीछे लौटते समय लड़के का चेहरा कुछ उतरा हुआ दीख पड़ता था। चौथी दूकान से लौट आने पर उस गृहस्थ ने पूछा—'अब तुम क्या करोगे? लड़के ने उत्तर दिया—'मैं सभी दूकानों में जाऊंगा शायद कहीं से पुस्तक मिल जाय?' ऐसा कह कर वह बड़ी बहादुरी से पांचवीं दूकान में घुसा और दूकानदार से किताब के लिए कहा। साथही उसने दूकानदार से कह दिया कि मेरे पास तीन शिलिंग ही हैं। दूकानदार ने उससे पूछा—'बच्चे, इतनी बड़ी क़ीमत की किताब लेने की तुझे क्या आवश्यकता है! तुझे यह किताब किस लिए चाहिए? लड़के ने उत्तर दिया—'महाशय, पढ़ने के लिए

स्कूल में जाने वाले कितने ही लड़कों के पास भूगोल की पुस्तकें हैं। मैं स्कूल नहीं जासकता। जिस समय मुझे अवसर मिलेगा उस समय इसे पढूंगा । भूगोल की पुस्तक मेरे पास नहीं है; इस लिए बहुत से लड़के मुझ से आगे बढ़ जायँगे, मैं यह नहीं चाहता । साथ ही मुझे यह भी जानना है कि मेरा बाप कहाँ कहाँ जाता था।' यह सुन कर दूकानदार ने पूछा— 'तुम्हारा बाप इस समय कहां है ? यह तुम्हें जानना है या और कुछ ?' लड़के ने उत्तर दिया 'मेरा बाप मर गया है। वह नाविक का काम करता था।' इतना कह कर वह थोड़ी देर चुप रहा। अन्त में वह बोला 'मुझे भी नाविक का काम करना है। मैं नाविक बनना चाहता हूं । यह सुन कर दूकानदार आश्चर्य-युक्त होकर बोला—'क्या तुम सचमुच नाविक का काम करना चाहते हो ? लड़के ! जब तुम इतनी हिम्मत रखते हो तब मैं तुम्हें यह भूगोल की पुस्तक दे देना चाहता हूं । तुम्हारी मरज़ी हो तो यह नई पुस्तक लो और जब तुमसे बन पड़े तब बाक़ी एक शिलिंग पहुंचा देना। साथ ही मेरे पास दूसरी एक और पुरानी पुस्तक भी है, वह मैं तुम्हें दो शिलिंग में दे दूंगा। तुम्हारी इच्छा हो तो उसे ही ले लो। यह सुन कर लडके ने पूछा—'क्या पुरानी किताब नई की तरह है ? उसके पन्ने सब मौजूद हैं ?' दूकानदार ने कहा—'है तो वह नई की तरह, उस के सब पन्ने भी मौजूद है। केवल वह पुरानी ही भर है । दोनों एक ही ग्रन्थकार की बनाई हुई हैं।' इस पर लड़के ने कहा— 'तब तो मैं दो शिलिंग की ही पुस्तक लूंगा।' इसके अनन्तर वह साथ वाले गृहस्थ से कहने लगा कि यह बहुत ठीक हुआ कि पहले दूकानदार ने मुझे पुस्तक नहीं दी। एक

शिलिङ्ग बाक़ी बचा। उस से मैं दूसरी किताब ख़रीदूंगा। लड़के के ऐसा कहने पर दूकानदार आश्चर्ययुक्त होकर उस गृहस्थ की ओर देखने लगा। इस पर उस गृहस्थ ने सब बातें उसे कह सुनाईं। यह सुन कर दूकानदार बहुत प्रसन्न हुआ। उसनें भूगोल की किताब के साथ एक पेंसिल और कितने ही ताव काग़ज़ भेंट के तौर पर लड़के को मुफ्त दिये। लड़के से उसने कहा—'तुम्हारे जैसे उद्योगी की सहायता करनी चाहिये।' इसी प्रकार उस गृहस्थ ने भी कितनी ही कोरी कापियां बिकती हुई खरीद कर उस लड़के को भेंट दीं। नई कापियों के मिलने से लड़का खुशी होकर उस गृहस्थ का उपकार मानने लगा। उसने कहा 'मैं आशा करता हूं कि किसी समय मैं तुम्हारे उपकार का बदला चुकाऊंगा।' यह कह कर दोनों नें एक दूसरे का नाम पूछा। लड़के का नाम विलियम हेवरलि था।

ऊपर की बात को हुए कोई तीस वर्ष बीत चुके थे। एक दिन वही गृहस्थ जो कि लड़के के साथ दुकान दुकान फिरा था और अन्त में भूगोल की पुस्तक खरीद दी थी और इनाम में जिसने लड़के को कितनी ही कापियां दी थीं, किसी काम से अमेरिका गया हुआ था। वहाँ से लौटते समय वह एक अच्छे जहाज़ पर सवार हुआ। हवा बहुत अच्छी थी, जहाज़ बड़ी तेज़ी से आ रहा था। पर एकाएक रास्ते में एक बड़ा तूफान उठा। जहाज़ हिलने लगा और साथ ही जहाज़ के नीचे से पानी भरने लगा। यात्रियों और खलासियों ने समझ लिया कि अब जहाज़ डूबता ही है। पर जहाज़ के कप्तान ने नाविकों को हुक्म

दिया कि जहाज़ का सब पानी उलीच डालो, इसमें ज़रा भी ग़लती न हो। कप्तान को विश्वास था कि चाहे जिस प्रकार से हो, जहाज़ को लिवरपूल के किनारे तक पहुंचा ही देंगे। उसने खुद भी पानी के निकालने और जहाज़ को बराबर लेजाने में बड़ी मेहनत की। नाविक थक भी जाते थे, पर, वह ज़रा भी नहीं थकता था। वह पल पल में ऊपर और नीचे जाता था। एक समय वह नीचे जा रहा था कि उसी गृहस्थ ने जिसका वर्णन अभी हम ऊपर कर चुके हैं विलियम हेवरली से पूछा— 'कप्तान साहब, जहाज़ सही सलामत पहुंच जायगा या नहीं ?' कप्तान ने उसके सामने नज़र कर फिर एक दूसरे मनुष्य की तरफ़ नज़र कर के कहा—'जो तुम सब मदद करोगे तो मैं ज़रूर तुम्हें लिवर-पूल के बन्दर तक पहुँचा दूंगा।' इसके अनन्तर उसने उन सबों को काम में लगाया। अन्त में जहाज़ किनारे पर पहुँचा और पहुँचते ही नीचे बैठ गया। पर, पानी अधिक न होने से वह डूबा नहीं। अगर रास्ते में वह बैठता तो अवश्य डूब जाता। बहुत से मनुष्य किनारे को जाने लगे। वह गृहस्थ सब से पहले उतरना चाहता था कि इतने ही में कप्तान ने उसका हाथ पकड़ कर कहा—'महाशय, आप मुझे पहचानते हैं ?' उसने उत्तर दिया—'मैंने आपको यहीं देखा है। मालूम होता है और कहीं आप को नहीं देखा।' इसके अनन्तर कप्तान ने तीस वर्ष पहले की भूगोल की पुस्तक वाली बात कही और उसे अपना नाम बतलाया। इस पर उस गृहस्थ ने कहा— 'हाँ मैं तुम्हें पहचानता हूं।' कप्तान ने कहा — 'मैं वही लड़का हूं और आज मैंने तुम्हारे उपकार का बदला चुका दिया।' कप्तान ने जब ऐसा कहा तब वह गृहस्थ बोला—

यह तुम्हारे पहले के उद्योग का फल है। बचपन में उद्योगशील होने से जवानी और बुढ़ापे में बहुत से लाभ होते हैं; यह तुम्हारे काम से साफ़ विदित है। इसके अनन्तर दोनों एक दूसरे से विदा हो गये।

हियानसाँग।

चीन के मुसाफ़िर हियानसांग का नाम बहुतों ने सुना है। लड़के स्कूलों में पढ़ते हैं कि हियानसांग नाम का चीन देश का एक पर्य्यटनकारी हिन्दुस्तान में आकर यहां के बहुत से स्थानों को देख गया था। पर वह कौन था, किसलिए हिन्दुस्तान में आया था, यह बहुत कम लोग जानते होंगे। इसी कारण लेखक यहां इसका पूरा वृत्तान्त देता है। इस वृत्तान्त से इस प्रसिद्ध मुसाफ़िर के असाधारण त्याग और उद्योगशीलता का परिचय मिलेगा।

चीन के ऊपरी प्रान्त के एक नगर में ईसवी सन् ६०३ में हियानसांग का जन्म हुआ था। उसी समय चीन में बलवा मचा हुआ था। इधर उधर चारों ओर बलवा मच जाने से राज्य का प्रबन्ध ढीला पड़ गया था। हियानसांग का पिता राज्य के किसी काम पर नौकर था। पर, अन्त में नौकरी छोड़ कर वह अपने चार लड़कों को पढ़ाने लगा। इन चार लड़कों में से दो बचपन से ही बड़े तीक्ष्ण बुद्धि सम्पन्न हुए। इन्हीं में से पर्य्यटक हियानसांग है।

चीन के अधिकांश मनुष्य बौद्ध धर्म का पालन करते हैं। हियानसांग एक धर्मात्मा बौद्ध था। उसने पहले पहल एक बौद्ध मठ में पढ़ना आरम्भ किया था। उस समय वह अपने बड़े भाई से भी बहुत कुछ सीख चुका था। हियानसांग ने

पाठशाला की पढ़ाई समाप्त करके अपना विवाह नहीं किया। वह तेरह वर्ष की उम्र में बौद्ध के साधु धर्म में दीक्षित हो गया। इसके अनन्तर हियानसांग सात वर्ष तक बड़े बड़े तत्वज्ञों और विद्वानों के उपदेश सुनने के लिए देश के एक स्थान से दूसरे स्थान पर फिरता रहा, परन्तु देश में हमेशा लड़ाई झगड़ा मचे रहने से उसके पठनपाठन में बहुत हानि होने लगी। कभी कभी तो उसे अकेले ही जंगल का सहारा लेना पड़ता था। इस प्रकार की गड़बड़ी में रहनेपर भी हियानसांग का पठनपाठन कभी छूटा नहीं। अनेक कष्टों को सहते हुए विद्या पढ़कर वह तीस वर्ष की उम्र में बौद्ध का पुरोहित हुआ। इसी छोटी उम्र में हियानसांग ज्ञान और विद्या के लिए अपने देश में प्रसिद्ध हो गया। वह अपने धर्म की उत्तम उत्तम पुस्तकें, महात्मा बुद्ध के जीवन चरित्र, उनके उपदेशों और अपने देश के दर्शन शास्त्रों से पूर्ण परिचित था। वह चीन की बड़ी २ शास्त्रशालाओं में छः वर्ष तक बड़े २ तत्ववेत्ताओं के आगे बैठकर एकाग्र मन से धर्मोपदेश सुनता रहा था। पर, अन्त में वहां के सब तत्ववेत्ता उसके सब प्रश्नों का उत्तर न दे सके। उसने अपने देश की भाषा में अनुवाद किये हुए बौद्ध धर्म ग्रन्थों को पढ़ा था। पर इससे उसकी शंका और भी दृढ़ होती गई। पहले लिख चुके हैं कि चीन में जहां तहां बलवा मचा हुआ था। कोई राज्य की सीमा नहीं छोड़ सकता था। उस समय हियानसांग और कितने ही अन्य पुरोहितों ने भारतवर्ष जाने के लिए मंत्रियों से आज्ञा माँगी। पर, आज्ञा न मिली। अतएव हियानसांग के साथ जाने का विचार रखने वाले सब साथी चुप हो गये। पर, हियानसांग ने भारतवर्ष जाने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा की। उसकी प्रतिज्ञा खण्डित नहीं

हुई। वह प्राणों को भी देकर अपनी प्रतिज्ञा के पालन के लिए तैयार था।

ईसवी सन् ६२६ में छब्बीस वर्ष की उम्र में बुद्ध का पवित्र नाम लेकर हियानसांग भारतवर्ष की ओर जाने को तैयार हुआ। वह पहले पहल ह्यांगहो नदी के किनारे पर पहुंचा। यहाँ हिन्दुस्तान जाने वाले यात्री इकट्ठे होते थे। प्राचीन समय में भारतवर्ष में कपिलवस्तु, जहां भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था, और गया, जहां उनका निर्वाण हुआ था, सब तीर्थ स्थान गिने जाते थे। इस कारण बौद्ध धर्म की यात्रा करने के लिए चीन और अन्यान्य देशों से यात्री यहां आते थे। ह्यांगहो नदी के किनारे पर जितने यात्री इकट्ठे हुए थे, उन सबों को राज कर्मचारियों ने जाने से रोक दिया। पर हियानसांग कर्मचारियों की नज़र बचा कर वहां से चला गया। शीघ्र ही उसके पकड़ने के लिए आदमी भेजे गये। पर, नई उम्र के सन्यासी का असाधारण उद्योग और अटल प्रतिज्ञा देख कर कर्मचारियों ने और किसी प्रकार से काम निकलता हुआ न देखा। उन्होंने उसे जाने की आज्ञा दे दी। कुछ दूर तक उसके साथ उसके दो मित्र भी आये थे। पर बाद को वे लोग भी उसका साथ छोड़ कर चले गये। हियानसांग निस्सहाय, बिना मित्र के, भक्ति भाव से अपने इष्टदेव की उपासना करके अपनी शक्ति बढ़ाने लगा। दूसरे दिन एक मनुष्य उसे मार्ग बतलाने को तैयार हुआ। हियानसांग उसके साथ बिना किसी रोक टोक के चल दिया। पर, अन्त में वह मनुष्य भी मरुभूमि के पास पहुंचने पर उसे छोड़ कर चल दिया। इससे अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा में हियानसांग ज़रा भी विचलित न हुआ। मरुभूमि में वह मृगतृष्णा की तरह भुलावे में पड़ गया।

वह धीर भाव से चलते चलते एक गुम्बद के पास आ पहुंचा। इस गुम्बद का रक्षक हियानसांग को अपने बाण का निशाना बनाना चाहता था पर यहां एक धर्मनिष्ठ बौद्ध अफ़सर की कृपा से उसके प्राण बचे। उसी अफ़सर ने इस साहसी तीर्थयात्री को दूसरे गुम्बद तक जाने की आज्ञा दे दी और हियानसांग को कोई तकलीफ़ न हो, इसके लिए वहां के अफ़सर के नाम एक चिट्ठा भी लिख दी। हियानसांग सब गुम्बदों से पार होकर, एक दूसरी रेतीली ज़मीन में आ पहुंचा। वहां वह रास्ता भूल गया। चमड़े की जिस मशक में वह पानी भर कर चलता था वह एकाएक फट गई। हियानसांग रास्ता भूलने और इस भयावनी भूमि में पानी न मिलने से बड़ी विपत्ति में पड़ा। उसका साहस और उद्योग यहां जाता रहा। उसने पीछे लौटने का इरादा किया। तदनुसार वह पीछे चलने भी लगा। एकाएक वह मार्ग में रुक गया। एक दम किसी ईश्वरीय शक्ति के बल से उसके साहस और उद्योग को उत्तेजना मिली। हियान-सांग ने सोचा कि मैंने शपथ खाई है कि जब तक हिन्दुस्तान में न पहुंचूंगा तब तक पीछे न लौटूंगा। इस दशा में मुझे यह ख़राब बात क्या सूझी? क्यों मैं पीछे जाने को तैयार हुआ? पश्चिम की ओर जाने में मेरे प्राण भी जायँ तो भी अच्छा। पर, जीते जी मैं पूर्व की ओर न लौटूंगा। अतएव वह पुनः पश्चिम की ओर लौटा। एक लोटा भी पानी न पीकर चार दिन और पाँच रात्रि बिता कर वह भयङ्कर रेतीली ज़मीन को पार कर सका। इस समय वह केवल धर्म पुस्तक के उपदेशों को पढ़ कर अपने हृदय को शान्त करता था। जवान उम्र का वह धर्मवीर इस प्रकार केवल धर्मोपदेश के बल से

बलवान होकर एक बड़े तालाब के किनारे पहुंचा। पासही एक शहर था। यह शहर तातारों के अधीन था। तातारों के राजा ने हियानसांग को अपने यहां अपनी प्रजा को उपदेश देने के लिए बड़े आग्रह के साथ रखना चाहा। परन्तु हियान-सांग वहां रहने पर राज़ी न हुआ। तातार राजा ने अन्त में बहुत ज़बर्दस्ती करना शुरू की। हियानसांग ने दृढ़ता के साथ कहा—'राजा शक्ति सम्पन्न होते हैं; पर वह शक्ति मेरे मन और मेरी इच्छा पर नहीं चल सकती।' अतएव राजा ने हियानसांग को क़ैद कर के जेलख़ाने भेज दिया। जेल में हियानसांग ने खाना पीना छोड़ दिया। यह ख़बर जब राजा को मिली तब उसने अन्य उपाय न देख कर उस दृढ़प्रतिज्ञ यात्री को जाने की आज्ञा दे दी। उसकी आज्ञा से बहुत से नौकर चाकर भी हियानसांग के साथ जाने को तैयार हुए। बीच में चौबीस राजाओं के अधिकार की भूमि पड़ती थी। इस तीर्थयात्रियों की मंडली को जाने में कोई रोक टोक न हो, इसके लिए हर एक राज के नाम एक एक चिट्ठी लिखी गई। हियानसांग इन साथियों के साथ बर्फ़ से ढके हुए ऊँचे ऊँचे पहाड़ों को नाँघ कर, बलख़ और काबुल होता हुआ भारतवर्ष आ पहुँचा। इन सब पहाड़ियों की चढ़ाई तय करने मे उसे बहुत दिन लगे थे। उसके साथ के चौदह साथी भी इस चढ़ाई में मर गये।

हियानसांग पहले पहल पेशावर पहुंचा। वहां से काश्मीर गया। अनन्तर पंजाब का पश्चिमोत्तर प्रदेश छोड़ कर वह मगध पहुचा। इतने दिनों बाद इस उद्योगी धर्मवीर की इच्छा पूर्ण हुई। इस विदेशी धर्मवीर

ने अपने पवित्र तीर्थ कपिलवस्तु श्रावस्ती, बनारस और बुद्धगया आदि का दर्शन किया। साथ ही मध्य-भारत के भी कितने ही स्थानों को देखा। बङ्गाल में जाकर ह्रियानसांग ने बौद्ध धर्म की दशा की जॉच की और दक्षिण में जाकर ज्ञान प्राप्त किया। धीरे धीरे घूम फिर कर उसने भारतवर्ष के सब स्थान देख डाले। ह्रियानसांग बड़े स्थानों में धुरंधर विद्वानों के साथ बात चीत करके और बड़े बडे संस्कृत और बौद्ध ग्रन्थों को पढ़ कर धीरे धीरे ज्ञानी और शास्त्रवेत्ता हो गया। संस्कृत में योग्यता प्राप्त करने के लिए उसने ध्यान पूर्वक पाणिनीय व्याकरण पढ़ा। धनवान मनुष्य जिस काम को नहीं कर सकते, उसे एक असहाय, विदेशी और ग़रीब युवक ने अपनी हिम्मत और उद्योग से और उसी प्रकार अपनी धर्मनिष्ठा के बल से कर दिखाया। इस प्रकार ह्रियानसांग ने अपने असाधारण बल से अपनी इच्छा पूर्ण की। इसके अनन्तर वह अपने देश को लौटने को तैयार हुआ। वह पंजाब और काबुल से गुजरता हुआ मध्य एशिया के पहाडी प्रदेश में पहुंचा। तुर्किस्तान, कासगर, यारक़न्द और स्कोटान की राजधानियों में कितना ही समय बिताकर सोलह वर्ष यात्रा, अध्ययन और विघ्न विपत्तियों के साथ संग्राम करने के अनन्तर ईसवी सन् ६४५ में उसने अपनी जन्म-भूमि चीन का दर्शन किया। ह्रियानसांग की ख्याति इस समय चारों ओर फैल गई थी। तत्कालीन चीन के बादशाह ने इस बुद्धिमान ग़रीब यात्री का यथायोग्य सम्मान करने में कुछ भी उठा न रक्खा। एक बार उसे खोजने के लिए उसने सिपाही भी भेजे थे। जिसके बॉध रखने की आज्ञा हथियार बन्द सिपाहियों को मिली थी, उसे ही अब बड़े सम्मान के साथ ले

आने की आज्ञा उन्हें मिली। चीन की राजधानी में उसके प्रवेश करते समय बड़ा उत्सव होने लगा। राजमार्ग गलीचों से ढक गये। उन पर सुगन्धित पुष्प बिखराये गये। फौजें रास्ते की दोनों ओर श्रेणीबद्ध होकर खड़ी हुईं। जगह जगह झंडे वायु से फहराने लगे। बड़े बड़े राज कर्मचारी अपने प्रसिद्ध यात्री को नम्र होकर लेने गये। ग़रीब धर्मवीर ने अपने कार्य्य के गौरव से बढ़े हुए होने पर भी नम्र भाव से ही राजधानी में प्रवेश किया। बादशाह ने उसको बहुत कुछ प्रशंसा करके उसे एक बड़ा काम देना चाहा। पर, 'हियानसांग' ने उसके लेने से इनकार किया। उसने अपना शेष जीवन बुद्ध के जीवन की महिमा और उनके धर्म के नियमों के अध्ययन में बिताने की इच्छा प्रकट की। बादशाह इस पर सतुष्ट हो गया। उसने उससे अपनी यात्रा का वृत्तान्त लिखने को प्रार्थना की। उसके लिए एक मठ भी बनवा दिया। हियानसांग ने अन्यान्य बौद्ध पुरोहितों को साथ लेकर भारत में संग्रह की हुई पुस्तकों का अनुवाद करना शुरू किया। उसका भ्रमणवृतान्त भी शीघ्र ही लिखा जाकर प्रकाशित हुआ। संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद करने में उसे बहुत समय लगा। कहते हैं, हियानसांग ने कोई चौहत्तर पुस्तकों का अनुवाद किया था। अनुवाद करने के समय कठिन कठिन भावों का अर्थ बैठाने के लिए वह एकान्त में जाकर विचार करता था। इस प्रकार धर्म की खोज में इतने ग्रन्थ लिखे गये। ग्रन्थों का प्रचार करते करते हियानसांग अन्त में अन्तिम जीवन में आ पहुंचा। मरते समय उसकी प्रसन्नता में कुछ भी कमी न आई थी। उसने शान्त भाव से कहा था कि, अच्छे कार्य्य के लिए मैंने जो शान्ति प्राप्ति की थी वह केवल

मेरो खुद को प्राप्त की हुई हैं। पर, दूसरे लोग भी उसके योग्य हैं। ईसवी सन् ६६४ में ६१ वर्ष की उम्र में हियानसांग की मृत्यु हुई। उस समय विजय के मद से मदान्ध मुसलमान पश्चिम की भूमि को लोहू से डुबो रहे थे और जर्मनी के अन्धकारमय प्रदेश में ईसाई धर्म का प्रकाश छिटकने लगा था।

आँकुटिल डु पेरो।

मोशिया आँकुटिल डु पेरो का नाम पारसी लोगों में प्रसिद्ध है। पूर्वीय ज्ञान को प्रकाश करके उसने बड़ी ख्याति प्राप्त की थी। भारत के पारसियों की धर्म पुस्तकों का यूरोप की भाषा में पहले पहल अनुवाद करने से पारसी लोगों में इस को प्रसिद्धि हुई। पर, मोशिया पेरो का जीवन चरित्र केवल पारसी अथवा यूरोपियन लोगों के ही काम का हो, ऐसा नहीं। वह बहुतों के लिए शिक्षाप्रद है। उसका आत्म-त्याग, उसका अध्ययन और उसके अन्य सब गुण दूसरे लोगों के लिए अनुकरणीय हैं।

आँकुटिल डु पेरो ईसवी सन् १७३१ में फ्रांस देश की राजधानी पेरिस में पैदा हुआ था। डु पेरो महाशय का कुटुम्ब बड़ा प्रतिष्ठित था। उसने पहले पहल अपने देश की प्रथा के अनुसार एक पाठशाला में शिक्षा प्राप्त की। इसके अनन्तर ईसाई धर्म की शिक्षा के लिए वह एक और पाठशाला में भरती हुआ। इस पाठशाला में थोड़े समय तक पढ़ कर

आँकुटिल डु पेरो फ्रांस के ही ओकशेर और आमर्स टर्ट नामक स्थानों की पाठशालाओं में शिक्षा के प्राप्त करने के लिए गया। वहां उसने यूरोप की वर्तमान भाषाओं के साथ हिब्रू, अरबी तथा पूर्वीय अन्य भाषायें सीखीं और अपनी युवावस्था में पेरिस लौट आया। इसी समय आँकुटिल का मन संसार के और सब धन्धों और रोज़गारों से हट गया था। उस का लक्ष्य पूर्वीय विद्याओं के प्राप्त करने में लग गया था। अपनी युवावस्था में ही वह विद्या के लिए एक प्रकार से योगी बन गया।

आँकुटिल जिस समय पाठशाला की शिक्षा प्राप्त कर पेरिस आया उस समय फ्रांस के बादशाह का पेरिस में एक बड़ा और प्रसिद्ध पुस्तकालय था। वह इस पुस्तकालय में प्रति दिन जाया करता था और वहां अपनी इच्छानुसार पुस्तकें पढ़ा करता था। पुस्तकालय में अबिसालींय नामक एक विद्वान् राज्य की ओर से हाथ की लिखी हुई मूल्यवान् पुस्तकों के सग्रह करने के लिए रक्खा गया था। उस के साथ आँकुटिल की मित्रता हो गई और उसी के द्वारा फ्रांस के अन्य प्रसिद्ध विद्वानों के साथ इसका परिचय हुआ। आँकुटिल डु पेरो का नाम संसार में जिस ग्रथ के कारण अमर हुआ, वह पारसियों के धर्म ग्रंथ का फ्रांसीसी भाषा में किया हुआ अनुवाद है। उसने भाषाओं का ज्ञान कैसे प्राप्त किया, उसने कैसे कैसे प्रयत्न किये और पारसियों के धर्म ग्रंथ कैसे मिले और उसी के लिए वह भारतवर्ष में कैसे आया आदि बातों का वर्णन अपने ग्रथ के अनुवाद के पहले भाग में इस प्रकार किया है—

"सन् १७५४ में जब मैं पेरिस में था तब ओकलफ़र्ड के पुस्तकालय में ज़ंद लिपि में लिखे हुये 'वन्दी वाद' के चार कागज़ मुझे दीख पड़े। उसी स्थान पर और उसी समय मैंने दृढ़ प्रतिज्ञा की कि इस प्रसिद्ध ग्रंथ को मैं अवश्य ही अपने देश में लाकर देशवासियों को लाभ पहुंचाऊँगा। इस ग्रंथ को प्राप्त कर इस का अनुवाद करने के लिए मैंने जो निश्चय किया उस के लिए केरमान अथवा गुजरात के पारसियों से ज़ंद भाषा सीखने की बहुत ही आवश्यकता थी। इस काम को अपने ऊपर लेकर मैंने सोचा कि मैंने संसार की भाषाओं के मूल विषय का जो ज्ञान प्राप्त किया है, उसमें इस से वृद्धि होगी और संसार की भाषाओं में जो हेर फेर हुए हैं मैं उसका अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकूंगा। इस के सिवा यह भी है कि पूर्वीय विद्याओं के लिए ग्रीक, लेटिन आदि भाषाओं की पुस्तकों पर हम जो व्यर्थ परिश्रम करते हैं, उस के बजाय यदि उन विद्याओं की मूल पुस्तकों को ही हम तलाश करें तो अधिक लाभ हो।

"इसी कारण मैंने ऐसा विचार किया कि पारसियों की पुस्तकों के विषय में यूरोपीय विद्वान् जो खोज कर गये हैं उसी को आगे बढ़ाने के बजाय दूसरे प्रकार की सफलता प्राप्त करने के लिए मेरे पास अधिक साधन हैं। वे साधन ये हैं कि जिस भाषा को सीखने की मुझे ज़रूरत है वह स्वयं जाकर पारसियों से सीखूं। इस के सिवा हिन्दुओं के धर्म-ग्रंथ, जो चार वेद हैं, वे और संस्कृत भाषा में लिखी हुई और भी बहुत सी पुस्तकें फ़्रांस के पुस्तकालय में मौजूद हैं। ये सब पुस्तकें हिन्दुस्तान से आई हैं। इन के विषय में कोई कुछ नहीं जानता। इस कारण मैंने केरमान के पारसियों

के पास जाने के बजाय हिन्दुस्तान के ही पारसियों से ज्ञान प्राप्त करने का निश्चय किया। साथ ही यह भी सोचा कि वही पुरानो ईरानी भाषा और संस्कृत भाषा के सीखने का भी मुझे अच्छा मौक़ा मिल जायेगा।"

ऑकुटिल डु पेरो ने इसी विचार के अनुसार पारसियों और हिन्दुओं को धर्म पुस्तकों की खोज करने के लिए भारतवर्ष आने का पक्का निश्चय कर लिया। अपने इस निश्चय को इसने अपने मित्रों के सामने प्रकट किया। उस समय फ़्रांस का लेआरिएंट नामक वन्दरगाह बड़ा आवाद था और वह बड़ा सुन्दर था। इस वन्दरगाह के साथ भारत का बहुत बड़ा व्यापार होता था। साथ ही उसी समय फ़्रांस में ईस्ट इंडिया कम्पनी क़ायम हुई थी। उस कम्पनी का इसी वन्दरगाह में अड्डा था। उस समय भारतवर्ष पर फ़्रांसीसी और अगरेज़ दोनों अपनी अपनी सत्ता जमाने के लिए अथक यत्न कर रहे थे। उसी समय ऑकुटिल प्राचीन पुस्तकों की खोज के लिए हिन्दुस्तान आने के लिए तैयार हुआ। इसी समय फ़्रांस की सरकार की ओर से लिआरिएंट बन्दर में जहाज़ों का बेड़ा फौज लेकर भारतवर्ष जाने के लिए तैयार था। इसी के साथ किसी जहाज़ में यात्री की हैसियत से बैठ कर ऑकुटिल की हिन्दुस्तान की ओर जाने की इच्छा हुई। पर, सभी सरकारों का यह नियम है कि लड़ाई में जाने वाली फ़ौज के साथ बाहर का कोई आदमी अथवा यात्री कभी नहीं जा सकता। नियम के अनुसार पेरो के कुछ धनी मित्रों ने फ़्रांस के राजमंत्री तक पेरो की शिफ़ारिस पहुंचाई। उन लोगों ने सोचा था कि बादशाह की आज्ञा से फ़्रांस की ईस्ट इण्डिया कम्पनी

के कर्मचारीगण पेरो को अवश्य ही अपने साथ लेते जाँयगे। पर, उनका सारा यत्न निष्फल हुआ। पेरो को क़ाफिले के साथ जाने की आज्ञा न मिली।

किसी का जब किसी कार्य में मन लग जाता है तब कोई रोक टोक सामने नही ठहर सकती। एवं उत्साह और यत्न करने में यदि किसी प्रकार की कमी न रक्खी जाय तो मनुष्य को आश्चर्य देने वाला कार्य भी सिद्ध हो जाय। उस ग़रीब आँकुटिल डु पेरो को फ़ौज के साथ जाने की आज्ञा न मिली। उसी समय कप्तान बुशी नामक एक फ्रांसीसी फ़ौज के ऊचे दर्जे पर नियुक्त होकर भारतवर्ष जा रहा था। पेरो उससे मिला और उसके साथ फ़ौजी सिपाही बन कर चलने को तैयार हुआ। कप्तान बुशी ने इसे फ़ौज की तकलीफ़ें बतलाईं और अपने साथ चलने से मना किया। परन्तु पेरो ने फ़ौज में दाखिल होने के लिए बहुत कुछ उद्योग किया और अन्त में अपना नाम हिन्दुस्तान जाने वाले सिपाहियों की सूची में लिखा लिया। उस समय पेरो की उम्र तेइस वर्ष की थी।

थोड़े दिनों बाद क़ाफिला हिन्दुस्तान जाने को तैयार हुआ। उस समय यह विद्वान् योगी जो फ़्रांस की पाठशालाओं में एक प्रसिद्ध विद्यार्थी युवक था, और जो सरकारी पुस्तकालय में फ़्रांस के धनी सज्जनों के साथ मुलाक़ात किया करता था, अपने लिये दो कमीज़, दो रूमाल और मोजों की एक जोड़ी इतने सामान की एक छोटी सी गठरी लेकर ७ नवम्बर सन् १७५४ ई० को सिपाहियों के साथ चल दिया। ये सब सिपाही पेरिस नगर से लेआरिएंट के बन्दर की ओर गये। वहाँ नौ दिनों में पहुँचे।

पेरो के जाने का समाचार पेरिस में फैल गया। सभी उसका साहस और उत्साह देख कर चकित हो गये। यह समाचार राजा के कानों तक पहुंचा। राजा अपने देश में ऐसे मनुष्यों को आश्रय देने में बहुत प्रसन्न होता था। अतएव ऑकुटिल के पेरिस से निकलने पर राजा ने एक आज्ञापत्र लेआरिएंट बन्दर के अधिकारी के पास भेज दिया। उसमें लिखा कि पेरो को, जो सिपाहियों की पल्टन में भरती हो गया है निकाल कर यात्री की तरह हिन्दुस्तान को भेज दो। साथ ही राजा ने ऑकुटिल के कार्य में सहायता देने के लिए उसे प्रति वर्ष पाँच सौ रुपये की वृत्ति भी देना स्वीकार की। यह समाचार पहुँचने पर बन्दर के अधिकारी ने पेरो को अपने पास बुला कर राजा की आज्ञा सुनाई। यह आज्ञा सुनते ही पेरो को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह मन ही मन बहुत प्रसन्न हुआ। इस समय रुपये खर्च करने पर भी जो कम्पनी जहाज़ पर बैठने को जगह नहीं देती, वह बिना कुछ लिए ही बड़े सम्मान और आराम के साथ उसे अपने हरेक जहाज़ पर बैठाने को तैयार है। पेरो बड़े आनन्द के साथ "डुकड़ आकीटेन" नामक एक जहाज़ पर सवार होकर हिन्दुस्तान पहुँचा।

तेइस वर्ष की अवस्था में जो मनुष्य इतना अधिक अभ्यास कर सकता है और संसार के लालचों से इतना दूर रह सकता है ऐसे मनुष्य इतिहास में बहुत ही थोड़े मिलेंगे। वह जहाज़ तारीख़ ९ अगस्त सन् १७५५ के दिन फुलचेरी में पहुंचा। फुलचेरी मद्रास के किनारे पर है। वह फ्रांस वालों का हिन्दुस्तान में पाया-तख़्त गिना जाता है। ऑकुटिल एक

फ़ौजी अफ़सर के नाम आज्ञापत्र लाया था। उसके कारण इसकी बहुत इज्ज़त हुई और उसकी वार्षिक वृत्ति १६००) लोवर (एक लोवर दस आने) की हो गई। उसे एक बड़ी तनख्वाह पर कम्पनी ने दुभाषिये के पद पर नौकर भी रखना चाहा पर, उसे धन की इतनी परवा न थी, अतएव उसने नौकरी करना मंज़ूर न किया। वह स्वयं एक जगह लिखता है—"मैंने तीन महीने में फ़ारसी बोलना सीखा" चाहे जो हो, वह बहुत बड़ा विद्यानुरागी था, इसमें कोई सन्देह नहीं।

पेरो उस समय अपनी जाति की अवस्था का वर्णन यों करता है—कुलचेरी में उसके जाति भाइयों को विद्या से प्रेम न था। वे सब अपने धन्धों और धन प्राप्त करने में लगे रहते थे। उन्हें पेरो की चाल बड़ी ही अद्भुत मालूम होती थी। पेरो पहले पहल फ्रांसीसी स्थानों में घूमने गया। इसके अनन्तर वह कुछ पादरियों के बुलाने से बंगाल गया। बङ्गाल में जाने के पहले फ्रांस के चन्द्रनगर में जाकर वह बीमार पड़ गया। उस समय वह बनारस जाकर संस्कृत भाषा सीखने का विचार कर रहा था। परन्तु उस समय फ्रांसीसियों और अंग-रेजों में भारी लड़ाई हो रही थी, इस कारण उसे बनारस जाने का मौक़ा न मिला। बात यह थी कि लड़ाई के कारण इस काम में उसे कोई मदद देने के लिए तैयार न हुआ। अतएव वह चन्द्रनगर से पुनः कुलचेरी लौट जाने को तैयार हुआ। कुलचेरी जाने के पहले आँकुटिल ने बंगाल के नव्वाब से मुलाक़ात की। अंगरेज़ों के साथ लड़ाई होने से फ्रांसीसियों के जहाज़ बङ्गाल की ओर से मद्रास के किनारे की ओर कुशलपूर्वक नहीं जा सकते थे। अतएव आंकुटिल को चन्द्रनगर से कुलचेरी तक स्थल

मार्ग से जाना पड़ा। उस समय गाड़ियाँ अथवा पालकी वगैरः सवारियां नहीं मिल सकती थीं और लड़ाई के कारण मार्ग में जानोमाल का भी जोखम था। इसी कारण उसने घोड़े पर सवार होकर यात्रा करने का निश्चय किया। वह राजमहल, दीनाजपुर, बालासोर, गंजाम और मछलीपट्टन के मार्ग से अनेक कष्ट भोगता हुआ तीन महीने में पहुँचा।

पेरो जब लौटकर पुनः कुलचेरी पहुंचा तब उसे हिन्दुस्तान में आये हुए लगभग दो वर्ष हो चुके थे। ऑकुटिल का भाई फ्रांस की ईष्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरी में कुलचेरी आया था और सौभाग्य से सूरत में उसे कम्पनी के सहकारी एजेन्ट का पद मिला। ऑकुटिल को भी सूरत जाना था। अतएव दोनों भाई साथ ही साथ सूरत गये। सूरत पहुंचने के पहले मलाबार किनारे के प्रसिद्ध २ शहरों में अच्छी तरह से घूम कर और मलाबार के लोगों से एक दो पुस्तकें और ताँबे पर खुदे हुए दो तीन पुराने लेखों को लेकर वह सन् १७५८ में सूरत पहुंचा। वहां उसने पहले पहल दो पारसी पुरोहितों से मुलाक़ात की। उन्हें उसने सौ रुपये पेशगी 'ज़न्द' अक्षरों से लिखी हुई 'वन्दीदाद' को अर्थ के साथ लिख देने के लिए दिये। परन्तु उन्होंने बहुत समय तक पुस्तक लिख कर नहीं दी। जब ऑकुटिल ने उन पर बहुत ज़ोर डाला तब तीन महीने के अनन्तर उन्होंने 'वन्दीदाद' की एक पुस्तक उसे लाकर दी। पेरो ने उन्हें जो दाम ठहर गये थे दे दिये। परन्तु वह पुस्तक अशुद्ध थी। अतएव पेरो ने पुरोहितों से शीघ्रही अक्षर ज्ञान प्राप्त किया। पेरो को जल्दी सीखता हुआ देखकर पुरोहितों ने सिखाने में कुछ

टाल मटूली की। उनके ऐसा करने पर भी पेरो का ध्यान सीखने की ही ओर था। पेरो को ज़न्द और टीका की 'पहेलवो' भाषा दस्तूरदोराव नामक मनुष्य सिखलाता था। अन्यान्य अनेक असुविधाओं के होते हुए भी पेरो ने जन्द भाषा सीख ली। पेरो इन भाषाओं का भावार्थ और समझने लायक़ बातें साधारण फ़ारसी भाषा में लिख लेता था। भाषाओं का यथेष्ठ ज्ञान हो चुकने पर पेरो ने 'वन्दीदाद' और 'ईजसनी' आदि धर्मग्रन्थों का अनुवाद करना आरम्भ किया। साथ ही पहेलवी, वून देशनी, शीराज़ो वज़र, क़ुरद आदि कितनी ही रुबाइतों और दो एक फ़ारसी की पुस्तकों का भी जिनका सम्बन्ध पारसियों के धर्म से था उसने अनुवाद करना चाहा। इन सब कामों के पूरा करने में पेरो ने कोई चार वर्ष तक लगातार सूरत में रह कर बड़ा परिश्रम किया। जिस उद्देश्य को हृदय मे रख कर पेरो अपने देश से भारतवर्ष को आया था, वह उद्देश्य अन्त मे उसने पूर्ण कर लिया। पेरो पारसियों के और और धर्मग्रन्थों की भी खोज में लगा रहा, परन्तु दस्तूरो (पुरोहितों) की चालबाज़ियों से कितने ही ग्रन्थ उसे न मिल सके।

ऊपर के वर्णन से पाठकों को ज्ञात हो गया होगा कि आँकुटिल डु पेरो अपने शिक्षक दोराब को अच्छी दृष्टि से नही देखता था। केवल अपनी आवश्यकता के लिए उसने उससे सम्बन्ध रख छोड़ा था। दोराब ने पेरो को अन्टसन्ट पुस्तकें देकर कई बार ठगा था। इस बात को पेरो ने साफ़ साफ़ अपनी पुस्तकों के प्रारम्भ में लिख दिया है। इतना ही नहीं, दोराब ने अपने धर्मशास्त्र की आज्ञा के विरुद्ध भी दो एक लज्जाजनक कार्य किये। धन के लोभ में आकर वह

आँकुटिल डु पेरो को पारसियों के 'आतिशखाने' और 'दरे महेर' नामक पवित्र स्थान के अन्यान्य भागों में छिपे तौर से ले गया। इन पवित्र स्थानों में उसने पेरो को चारों तरफ़ घुमा फिरा कर उनके सब भागों से उसे परिचित कराया। इसके अनन्तर पेरो सूरत में पारसियों का 'दोखमु' स्थान देखने भी गया था।

पारसियों के धर्मग्रन्थों की नक़ल और अनुवाद सूरत में समाप्त कर चुकने पर पेरो बम्बई के समीप की कनेरी और धारापुरी की गुफाओं को देखने के लिए पैदल वहाँ पहुँचा। गुफाओं को देख कर उसी रास्ते से वह सूरत लौट आया। सूरत में थोड़े दिनों तक रहने के बाद पेरो की इच्छा बनारस जाकर हिन्दुओं के धर्मशास्त्र और संस्कृत भाषा पढ़ने की हुई। पर इतने ही में उसे समाचार मिला कि फ्राँसीसियों और अंगरेजों में लड़ाई फिर शुरू हो गई। अँगरेज़ों ने फुलचेरी का बन्दर भी फ्रांसीसियों के हाथ से छीन लिया। इसी कारण इस समय पेरो ने अपने देश को लौट जाना उचित समझा। लगभग ८ वर्ष तक अपने देश से बाहर रहने पर उसके पास पुस्तकों का एक उत्तम और अमूल्य संग्रह हो गया था। वह चाहता था कि उसका यह संग्रह किसी प्रकार उसके देश तक पहुँच जाय तो अच्छा हो। पेरो ने सूरत से बम्बई के फ्राँसीसी कर्मचारियों को अपनी यह इच्छा लिख भेजी। बम्बई से एक अँगरेज़ी जहाज़ इङ्गलैंड को जा रहा था। पेरो ने बतौर मुसाफिर के उसी के द्वारा अपने देश को जाना चाहा। फ्राँसीसी सरकार ने उसे जाने की आज्ञा दे दी। अतएव सूरत से बम्बई पहुंचा। बम्बई से तारीख़ २८ अप्रेल सन् १७६१ ई०

को उस का जहाज़ इङ्गलैंड की ओर रवाना हुआ।

इङ्गलैंड पहुच कर पेरो वहाँ के आक्सफोर्ड नामक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय के पुस्तकालय को देखने गया। वहाँ उसने पारसियों के धर्मग्रन्थों को बड़े ध्यान से पढ़ा। इसके अनन्तर फ्रांसकी राजधानी पेरिस गया। वहां पहुंचते ही फ्रांस की सरकार ने पेरो का वेतन नियत कर उसे पूर्वीय भाषाओं के दुभाषिये के सम्मान योग्य पद पर नियुक्त किया। इस पद पर उस ने १० वर्ष तक बड़े परिश्रम से कार्य किया। सन् १७७१ ई० में उसने फ्रांसीसी भाषा में 'ज़न्द अवस्ता' का अनुवाद प्रकाशित किया। यह ग्रन्थ मोटी मोटी ३ जिल्दों में था। इसी महान् ग्रन्थ के कारण पेरो का नाम आज तक अमर है। ज़न्द अवस्ता' पारसियों का बडा ही पवित्र धर्म ग्रन्थ है। इस में ज़रथोस्त धर्म वालों के इतिहास और उनके आचार व्यवहार आदि का वर्णन है।

पेरो अपने साथ भारतवर्ष से कोई १८० उत्तमोत्तम प्राचीन पुस्तकें ले गया था। ये सब पुस्तकें पारसियों के धर्म और इतिहास से सम्बन्ध रखती थीं। साथ ही कुछ पुस्तकें उनकी प्राचीन भाषा की भी थीं। ये सब पुस्तकें उसने पेरिस के राजकीय पुस्तकालय को अर्पण कर दी थीं, जहाँ वे अब तक ज्यों की त्यों मौजूद है। पेरो ने प्रत्येक पुस्तक की विषय सूची और कौन पुस्तक किस शब्द से प्रारम्भ होती है, इत्यादि बातों की एक अनुक्रमणिका भी लिख कर पुस्तकालय में रख दी थी।

'ज़न्द अवस्ता' के प्रकाशित होने के समय से पेरो निश्चिन्त होकर बैठ न सका। यह प्रख्यात पुरुष फ्रांस की एकेडेमी की विद्वन्मण्डली का सभासद था। इसको क़लम

से निकली हुई पूर्वीय देशों से सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। पुस्तकें उपर्युक्त मण्डली द्वारा ही प्रकाशित हुई थीं। इसके सिवा उत्तरी देशों के लोगों के आचार व्यवहार आदि से सम्बन्ध रखने वाली एक अमूल्य पुस्तक इसने लिखी थी। भारतवर्ष के भूगोल और व्यापार आदि के सम्बन्ध में भी इसकी लिखी हुई एक अच्छी पुस्तक है। सन् १७९७ ई० में फ्रांस वालों ने अपने राजा को राजगद्दी से उतार कर फ्रांस में प्रजातन्त्र शासन स्थापित किया। यह दशा देख कर पेरो बहुत उदास हो गया। वह फ्रांस का खूनखराबा न देख सका। वह संसार के लोगों से अपना सब सम्बन्ध तोड़ कर अपने पुस्तकालय में जा बैठा। पुस्तकालय में बैठ कर उसने 'हिन्दुस्तान और यूरोप में मेल' और 'हिन्दुओं के उपनिषद्' नामक दो पुस्तकें प्रकाशित कराईं। फ्रांस में शान्ति होने के बाद वह एक छोटी सी पाठशाला का अधिकारी नियत हुआ। पर, उस समय उस का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था। वह बहुत कम भोजन करने लगा था। उसका मन पढ़ने लिखने के सिवा और किसी काम में न लगता था। स्वास्थ्य के ख़राब रहने पर भी उसने पढ़ने लिखने का अभ्यास कम न किया। इसी कारण उसकी शारीरिक निर्बलता बढ़ती गई और अन्त में सन् १८०५ ईसवी की १९ वीं जनवरी को वह इस असार संसार को छोड़ गया। मृत्यु के समय पेरो की उम्र ७४ वर्ष की थी। पेरो जैसे विद्याप्रेमी संसार में बहुत कम होंगे।

कसोमा कोरसी।

सन् १८२० ईसवी की पहिली जनवरी के दिन, जब यूरोप-निवासी नवीन वर्ष के आगमन से आनन्द समुद्र में गोते लगा रहे थे उसी समय, लगभग ३० वर्ष की उम्र का एक धनहीन और ग़रीब युवक कुछ थोड़े से कपड़े लत्ते लेकर एशिया खण्ड की यात्रा करने को रवाना हुआ। इस युवक का नाम एलेग्ज़ेण्डर कसोमा था। इसका जन्म कोरस देश में हुआ था इसी कारण इसे कोरसी कहते थे। कोरस देश यूरोप के हंगरी प्रदेश में है। हंगरी अंग्रेज़ों का आदिम निवास-स्थान है। कहते हैं कि हूण (अंग्रेज़) जाति एशिया से जाकर यूरोप में बसी। हूण जाति के नाम के अनुसार ही उस देश का नाम आज तक हंगरी है। कसोमा को बचपन में पादरी होने के योग्य शिक्षा दी गई थी। स्कूल में पढ़ते समय एक दिन कसोमा के अध्यापक ने समझाया कि हूण (अंग्रेज़) जाति का आदिम निवास स्थान एशिया है। वहीं से यह जाति यूरोप में आई है। अध्यापक ने उसी समय उससे यह भी कहा कि चीन के पश्चिमी भाग में तलाश करने से हूण जाति के लोग अब भी मिल सकते हैं। अध्यापक की बातें सुनते ही कसोमा को अपने पूर्व पुरुषों के कुटम्बों के देखने की प्रबल मनो-कामना हुई। अन्त में पाठशाला और अपने सम्बन्धियों और भाई-बन्धुओं का साथ छोड़ कर कसोमा एशिया खण्ड की ओर रवाना हुआ। जिस समय उसने अपना घर छोड़ा उस समय उसे देख कर उस के पड़ोसियों

और मित्रों ने उससे पूछा कि, 'तुम कहां जा रहे हो?' कसोमा ने उनके इस प्रश्न का उत्तर दिया—"एशिया महाखण्ड में अपने पूर्वजों के कुटुम्बियों से मिलने जा रहा हूं।"

बिना कौड़ी पैसे के और बिना उस देश की भाषा जाने हुए यह उत्साही युवक जिस देश को जा रहा है उसका आचार व्यवहार और मार्ग आदि का उसे कुछ भी पता नही। पर बात यह है कि पुण्य तीर्थों के दर्शन के लिए यात्रा करने पर कौन मनुष्य भविष्य का विचार करता है? असाध्य कार्य को सिद्ध करने के लिए जब मन उत्कण्ठित होता है तब कौन उसकी शीघ्रगामिनी गति को रोक सकता है? तुम तो ऐसे अन्धकार में एक पैर भी आगे बढने को समर्थ नहीं हो सकते। पर, सभी यदि हमारे तुम्हारे जैसे ही होते तो इस संसार की इतना उन्नति कैसे हुई होती। एशियावासी अपने पूर्वजों के साथ मुलाक़ात करना, कसोमा के जीवन का मुख्य मन्त्र था, जब तक उसका यह मन्त्र सिद्ध न हो तब तक धन और ऐश्वर्य के विलास में उसका मन तृप्त नहीं हो सकता था। जब मनुष्य की इच्छा किसी काम को पूरा करने के लिए प्रबल हो उठती है तब वह सब विघ्न बाधाओं को दूर कर देता है। यहां तक कि यदि कार्य की सिद्धि में किसी प्रकार की कठिन अड़चन हुई तो वह अपने प्राणों तक को विसर्जन कर सकता है। विष्णु को प्राप्त करने के लिए जब ध्रुव की उत्कण्ठा प्रबल हो उठी तब उसे माता का नम्र निवेदन, करुण क्रन्दन, जंगल के पशुओं का भय आदि कोई कठिनाई विचलित न कर सकी। शाक्य का प्राण संसार के लिए रोदन करता था। इसी कारण यशोधरा और गौतम,

राहुल और शुद्धोदन की माया ममता उन्हे वश में न कर सकी। चैतन्य ने 'हरि बोल' कह कर नवद्वीप छोड़ा तब माता और लक्ष्मी की ममता उन्हें रोक न सकी। शाक्य और चैतन्य की ही तरह कसोमा भी सन्यासी था। एशिया की मातृभूमि महातीर्थ देखने के लिए वह वैरागी हुआ था। बुखारेस्ट जाकर तुर्की भाषा सीखूंगा और फिर वहां से टर्की राजधानी कुस्तुन्तुनियाँ जाऊँगा, यह निश्चय कर कसोमा सब से पहले बुखारेस्ट पहुंचा, पर वहाँ उसकी इच्छा पूर्ण होती न दिखाई दी। वह वहां से फिलिपयोलिस शहर मे पहुंचा। उस समय वहां महामारी का प्रकोप था। इसके कारण शहर के कितने ही धनीमानी पुरुषो की मृत्यु हो गई थी और कितने ही लोग शहर से भाग कर इधर उधर चले गये थे। इसी कारण कसोमा मिश्र देश के एलेग्जेण्डरिया नगर में पहुंचा। पर उस नगर की भी दशा महामारी के कारण फिलिपयोलिस की तरह हो रही थी। हम तुम होते तो इतनी असुविधाओं के आ पड़ने पर एकदम लौट कर अपने घर का रास्ता लेते पर कसोमा इन असुविधाओ की ज़रा भी परवा न करके आगे ही बढ़ता गया। उसने अफ़रीका छोड़ कर एशिया महाखण्ड में प्रवेश किया। पहले पहल वह सोरिया पहुंचा और वहां से फिर आलेपो गया। इसके अनन्तर वह बग़दाद नगर में आया। कभी पानी के रास्ते से जहाज़ पर चढ़कर और कभी स्थल पर पैदल चल कर वह आगे बढता गया। चुम्बक जिस प्रकार लोहे को अपनी ओर खींचता है उसी प्रकार कसोमा अपने निश्चित मार्ग पर दौड़ने लगा। उसने मुसलमानी पोशाक पहिन रक्खी थी और भीख मांग कर अपना उदर पोषण करता था।

बग़दाद पहुंच कर उसने अपनी अंगरेज़ी पोशाक धारण की और वहाँ से घोड़े पर चढ़ कर वह तेहरान पहुचा। तेहरान में वह चार महीने रहा। सन् १८२१ ई० के मार्च महीने में एक व्यापारी के साथ आरमनी की पोशाक पहन कर वह खुरासान जा पहुंचा। वहां ६ महीने रह कर वह बुख़ारा के लिए रवाना हुआ। बुख़ारे से एक साल के भीतर ही वह अपने मनोरथ को सफल कर सकता था—अर्थात्, चीन के पश्चिमी भाग में पहुंच जाता। पर बुख़ारा पहुंच कर उसने सुना कि रूस की बड़ी भारी फ़ौज वहां पर घेरा डालने आ रही है। यह सुनकर वह बुख़ारा से व्यापारियों के एक क़ाफ़ले के साथ काबुल जा पहुचा। काबुल में केवल १५ दिन का विश्राम लेकर जनवरी सन् १८२२ ईसवी में वह लाहौर चला आया। सेनापति आलार्ड और डेटुरा की विशेष प्रार्थनाओं से महाराज रणजीतसिंहजी ने उसे काश्मीर जाने की परवानगी दे दी। काश्मीर से यारक़न्द जाने की उसकी इच्छा थी। पर काश्मीर से थोड़ी दूर जाकर कसोमा को मालूम हुआ कि इस रास्ते से हिमालय पार करना बड़ा कठिन है। अतएव उसने दूसरा मार्ग पकड़ना उचित समझा। काश्मीर से वह लाहोर की ओर वापस हुआ। रास्ते में हिमालय के प्रसिद्ध यात्री मुरकाफ़्ट के साथ उसकी भेंट हुई। मुरकाफ़्ट की सलाह से वह पुन. "ले" नगर को लौटा। 'ले' नगर में 'भोर' भाषा की पहिली पुस्तक उसके देखने में आई। तिब्बत निवासियों की भाषा का नाम 'भोर' है। एक तिब्बत निवासी के द्वारा कसोमा ने उस पुस्तक के अक्षरों को सीखा। अक्षरों के सीख चुकने पर उसे 'भोर' भाषा को अच्छी तरह से सीखने की इच्छा उत्पन्न हुई।

उसने सुन रक्खा था कि बौद्ध मठों में हज़ारों लाखों अमूल्य ग्रंथ छिपा कर रक्खे हुए हैं। इस कारण उसकी यह इच्छा और भी प्रबल हो उठी। उसने चाहा कि भोट भाषा सीख कर इन अमूल्य ग्रन्थों का पता लगाऊं। उसने निश्चय किया था कि बौद्ध ग्रन्थों में उसके पूर्व पुरुषों के कुटुम्बियों के सम्बन्ध की कोई न कोई बातें अवश्य मिलेंगी। अतएव अपने मन का अभिप्राय उसने अपने साथी मुरकाफ़्ट से कहा। मुरकाफ़्ट ने कसोमा को इस कार्य के लिए और भी उत्साहित किया और सहायता के लिए उसने उसे कुछ धन और पत्र आदि भी दिये। उनकी इस प्रकार की सहायता पाकर कसोमा ने भोटियों का वेश धारण किया और ले नगर से विदा होकर किसी विद्यालय की खोज करने लगा।

पहले पहल वह जङ्कार नामक एक मठ में पहुंचा। वहाँ वह एक लामा के पास ४ मास तक विद्याध्ययन करता रहा। जाड़ा शुरू हो जाने पर वहां से वह सवाथु नामक नगर को चला गया। एक वर्ष तक वहां रह कर उस ने तिब्बत में प्रवेश किया। वह तिब्बत के एक मठ में रह कर ग़रीब और दीन हीन विद्यार्थी की तरह विद्याध्ययन करने लगा। यहां मठ की जिस कोठरी में वह रहता था, उसकी लम्बाई चौड़ाई केवल ६ हाथ थी। जाड़ों में चार महीने तक यहां थरमामीटर का पारा शून्य में पहुँच जाता था। इन चार महीनों तक कसोमा एक क्षण भरके लिए भी इस कोठरी से बाहर नहीं निकल सकता था। इसके सिवा, खाट के बिना, उसे नित्य ज़मीन पर ही सोना पड़ता था। कोठरी में वह आग नहीं जलाता था तो भी उसने विद्याध्ययन में ज़रा भी कमी नहीं की। उसके साथ ही एक और लामा भी

पढ़ता था। पुस्तक का एक पन्ना पढ़ चुकने पर दूसरे पन्ने के लौटाने के लिए दोनों विद्यार्थियों मे परस्पर निपटारा हुआ करता था। ठंढ से ठिठुरे हुए हाथों में हिलने डुलने तक की शक्ति नहीं रह जाती थी। यदि एक बार भी कपड़े के अन्दर से बाहर हाथ निकाला जाता तो ठंढ के मारे वह टूट कर गिरने सा लगता था। इस प्रकार पाँच वर्ष तक अध्ययन करके 'भोर' भाषा के ४० हज़ार शब्दों का उसने एक कोष तैयार कर डाला। इस कोष को लेकर सन् १८३१ ईसवी मे वह शिमले पहुँचा। उस समय जिन लोगों ने उसे देखा था वे कहते हैं कि कसोमा काले रंग के मोटे कपड़े से बना गले से लगा कर पैर तक झूलता हुआ लबादा पहनता था। सिर पर उसी तरह के कपड़े की एक लम्बी टोपी लगाये रहता था। मुँह उसका दाढ़ी से भरा हुआ था। स्वभाव एक फकीर को तरह था। वह अँग्रेज़ों के पास नही जाता था। कोई यूरोपियन उससे मिलने जाता तो उसे कष्ट मालूम होता था। रात दिन वह विद्याभ्यास में ही निरत रहता था।

ईसवीं सन् १८३२ में कसोमा कलकत्ते गया। वहां विलसन और प्रिंसेप आदि पुराने खोज करने वालों ने उसका बड़ा सम्मान किया। वह कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी का सहकारी पुस्तकाध्यक्ष बना दिया गया। पर कसोमा का मन तिब्बत की ओर लगा हुआ था। जो कुछ तिब्बत से वह संग्रह करके लाया था, उसे कलकत्ते के कोषागार में रखने का प्रबन्ध करके वह शीघ्र ही पुनः तिब्बत को रवाना हुआ। ईसवी सन् १८३६ में सिकम, भूटान और नैपाल के रास्ते होकर उसने वहां प्रवेश करने का यत्न किया। पहले पहल

वह त्रितालिया नामक मठ में पहुँचा। वहां लगभग एक वर्ष तक उसने निवास किया। अंग्रेज़ी फ़ौज का सेनापति लाइड वहीं रहता था। उसने बहुतेरा चाहा कि कसोमा को अपने ही घर में रक्खे, पर कसोमा किसी प्रकार राज़ी न हुआ। वास्तव में उसकी इच्छा यह थी कि वह उस देशके निवासियों के साथ रह कर उनके आचार व्यवहार और रीति नीति का ज्ञान प्राप्त करे। वह जानता था कि देशी लोग अंग्रेज़ों के सामने कभी अपने मन के भावों को नही प्रकट करते। इसी कारण लाइड की बात न मान कर उसने जङ्गल में एक झोपड़ी बनाई और वहीं निवास करता रहा। इस झोपड़ी में रहते हुए कसोमा का खानपान आदि के लिए केवल ४) रुपये का ख़र्च पड़ता था। हमेशा उसकी ख़ूराक केवल भात और थोड़ी चाय थी। तम्बाकू और शराब आदि नशीली चीजों का वह कभी व्यवहार नहीं करता था।

ईसवी सन् १८३७ के अन्त में वह पुनः कलकत्ता लौट आया। इस बार क़रीब ५ साल तक वह कलकत्ते में रहा। एशियाटिक सोसायटी की एक छोटी सी कोठरी मे वह रहता था। ज़मीन ही पर उसका विछौना रहता था। कोठरी के भीतर एक छोटी सी दरी विछी रहती थी। विछौने की चारों ओर पुस्तकों से भरी हुई चार सन्दूकें रक्खी हुई थीं। यही वह रात दिन रहता था। वह कभी किसी के मकान पर नहीं जाता था। पढ़ते पढ़ते बीच में उठ कर आंगन में टहलने लगता था। किसी के साथ अधिक बातचीत नही करता था। हमेशा ऐसा ही मालूम पड़ता था, जैसे किसी विचार में मग्न हो। शाम को अपनी इच्छा के अनुसार टहलने जाया करता था। पोशाक उसका वही काला और सिर से

पैर तक लटकता हुआ कुरता था। सिर पर वही काली टोपी रहती थी। अपनी इस पोशाक को वह कभी नहीं बदलता था। ईसवी सन् १८४२ में वह फिर तिब्बत की ओर रवाना हुआ। तिब्बत के लासा नगर में जाकर बौद्धधर्म के अनेकों ग्रन्थों के देखने की उसकी प्रबल इच्छा थी। पर, शोक है कि दार्जिलिंग पहुँचते ही उसे बुखार ने धर दबाया। केवल ५ दिन के ही बुखार में तारीख़ ११ वीं अप्रैल सन् १८४२ ईसवी में वह इस लोक से विदा हो गया। एशियाटिक सोसायटी ने एक हज़ार रुपये ख़र्च करके दार्जिलिंग में उस की एक समाधि बनवा दी है।

कलकत्ते में रहते समय कभी कभी कसोमा रोने लगता था। जब तक वह अपने पूर्व पुरुषों के कुटुम्बियों से मुलाक़ात न कर ले तब तक उसे शान्ति नहीं थी। इसी कारण वह बार बार तिब्बत की ओर दौड़ता था। इसी प्रयत्न और इसी परिश्रम में उसके प्राण गये। दार्जि-लिंग के शिखर पर भी मरते समय अपने पूर्वजों के कुटम्बियों को मुलाक़ात के लिए ईशान दिशा की ओर मुँह फेर कर उसने एक लम्बी साँस ली और उसी समय अपनी आँखें बन्द की।

बलांटिड जामिरे डुवाल।

फ्रांस के आर्टनि ग्राम में सन् १६९५ ईसवी में डुवाल का जन्म हुआ था। उसका पिता बहुत ग़रीब था। साधारण रीति से खेती बारी का काम करके बड़ी कठिनाई के

साथ वह अपने कुटुम्ब का भरणपोषण करता था। जिस समय डुवाल का उम्र १० वर्ष की थी उसी समय उसके माता पिता, कई लड़के लड़कियां छोड़कर, स्वर्गवासी हो गये। उनके पालनपोषण का और कोई भी उपाय न रहा। अतएव वह बड़ी बुरी हालत में पड़ा। पर, इस हालत में भी पड़ कर उसने अपने उद्योग और परिश्रम से अपने मार्ग की सारी असुविधाओं को दूर करते हुए असा-धारण विद्वत्ता प्राप्त की और संसार में वह उन्नति की ओर बहुत कुछ आगे बढ़ा। माता पिता के स्वर्गवासी हो जाने के दो वर्ष बाद वह एक किसान के यहां गायें चराने पर नियुक्त हुआ, पर लड़कपन के कारण कुछ ख़राब काम करने पर थोड़े ही दिनों में वह वहां से निकाल दिया गया। अब उसको अपनी जन्मभूमि छोड़ने के सिवा और कोई चारा न रहा।

सन् १७०६ के शीतकाल में वह घर से 'लारेन' प्रांत की तरफ़ रवाना हुआ। मार्ग में उसे बड़े ज़ोर से चेचक निकल आई। इस समय एक किसान यदि उसे आश्रय न देता तो अकाल में ही वह स्वर्गलोक को चला गया होता। पर, सौभाग्य से किसान को उसकी दीन दशा पर दया आई। वह उसे अपने अस्तबल मे उठा ले गया। वहां लेजा-कर उसने उसे बकरियों की लेंड़ी के बिछौने पर सुलाया; क्योंकि किसान में इसके सिवा और कुछ बिछौना देने की सामर्थ्य न थी। बहुत ही ख़राब बनी हुई रोटियां और पानीमात्र से उसकी सुश्रुषा होने लगी। इस प्रकार की सेवा सुश्रूषा और सावधानी हाने पर भी सौभाग्य से डुवाल

का इस भयङ्कर रोग से पीछा छूटा। अन्त में एक पादरी की सहायता पाकर वह पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गया।

स्वस्थ होकर वह फिर आगे बढ़ा। अन्त में नैन्सी प्रदेश में एक गृहस्थ के घर उसे नौकरी मिली। वहां उसने दो वर्ष विताये। डुवाल बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि का बालक था। वह सांप बिच्छू और मेंढक आदि छोटे छोटे जीव जन्तु इकट्ठे कर अपने पड़ोसियों के पास लाता और उनसे उनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार के प्रश्न किया करता। ये जीव जन्तु कैसे पैदा हुए, इनके पैदा होने की क्या आवश्यकता थी, ये किस प्रकार और कहां रहते हैं, इत्यादि प्रश्नों से वह पड़ोसियों की नाकोंदम कर लेता था। पर पड़ोसी उस के इन प्रश्नों के जो उत्तर देते थे वे संतोषजनक न होते थे। साधारण बुद्धि के लोग साधारण वस्तुओं को साधारण ही समझते हैं, पर बड़ी बुद्धि वाले किसी वस्तु को भी साधारण नहीं समझते। इसी कारण अक्सर ऐसा होता है कि ऐसे मनुष्यों को तीक्ष्ण बुद्धि के प्रारम्भिक कार्यों को देखकर लोग उन्हें पागल समझते हैं।

एक रोज़ डुवाल ने गांव के किसी लडके के हाथ में ईसप की बनाई हुई कहानियों की पुस्तक देखी। इस पुस्तक में पशु, पक्षी और सर्प आदि अनेक प्रकार के जीवजन्तुओं के चित्र थे। इस समय तक डुवाल ने अक्षर पहचानना भी नहीं सीखा था। अतएव वह न जान सका कि पुस्तक में क्या लिखा है। जिन जीवजन्तुओं को उसने पुस्तक में देखा था उनके नाम और उनके विषय में ईसप ने क्या लिखा है, इस बात को जानने को उसकी अत्यन्त प्रबल और आश्चर्य-जनक इच्छा हुई। उक्त पुस्तक के पढ़ने की उसने

उस बालक से अनेकानेक प्रार्थनायें कीं, उसने किसी प्रकार उसकी इस प्रार्थना को स्वीकार न किया । अन्त में किंकर्त्तव्य विमूढ़ होकर वह अत्यन्त दुःखित हुआ ।

दुःखित होकर उसने मन ही मन प्रतिज्ञा की कि चाहे जैसी मिहनत क्यों न पड़े, मैं पढ़ना लिखना अवश्य सीखूंगा। अतएव मज़दूरी से वह जो कुछ पाता उसमें से बहुत कुछ कष्ट सहने पर भी दो चार पैसे अवश्य बचा लेता । ये पैसे वह अपने से बड़े लड़कों को देकर उनसे पढ़ना लिखना सीखता था ।

डुवाल ने थोड़े ही दिनों में अत्यन्त परिश्रम करके अपना इच्छित कार्य एक प्रकार से पूर्ण कर लिया । भाग्य-वश उसे एक दिन एक पञ्चाङ्ग देखने को मिला। इस पञ्चाङ्ग में ज्योतिष चक्र की १२ राशियां लिखी हुई थीं । इन राशियों को देख कर उसने निश्चय किया कि ये अवश्य ही आकाश-मण्डल के पदार्थों के चिन्ह हैं, इस में ज़रा भी सन्देह नहीं । इसके अनन्तर वह पञ्चाङ्ग के इन पदार्थों को देखने के लिए आकाशमण्डल की ओर देखने लगा और जब तक उसने इन सबों को देख न लिया तब तक उसका हृदय शान्त न हुआ ।

कुछ दिनों के बाद वह एक छापेखाने की खिड़की के सामने से होकर निकला। वहां उसने भूगोल का एक नक़्शा टंगा हुआ देखा। पहिले जितनी वस्तुयें उसने देखी थीं उन सब से उसे यह नक़्शा अच्छा लगा। मण्डल इस नक़्शे में भी बने हुए थे। अतएव दाम देकर उसने उसे उसी वक्त

ख़रीद लिया। समय मिलने पर वह उस नक़्शे को बड़े ध्यान के साथ देखता और पढ़ता था। जैसे चिह्न राशि-मंडल में बने हुए थे वैसेही चिह्न इस नक़्शे में भी बने हुए थे। इन्हें देख कर उसने अनुमान किया कि ये फ्रांस की सड़कों पर लगे हुए लीग अर्थात् मील के चिह्न है। परन्तु उसने सोचा कि साम्पेंन से लारेन आते समय उसे कितने ही लीग छोड़ने पड़े है। साथ ही पहिले के और इस नक़्शे की बनावट में बहुत कम अन्तर है। यह सोच कर उसने अपना पहिला अनुमान ग़लत समझा। चाहे जो हो, डुवाल ने इस नक़्शे और अन्यान्य नक़्शों को देख कर भूगोल सम्बन्धी सब चिह्नों को भली भांति समझ लिया। इतना ही नहीं, भूगोल के सम्बन्ध में उसने विशेष योग्यता प्राप्त करली। डुवाल इस प्रकार बड़े प्रेम और परिश्रम से अध्ययन करने लगा, परन्तु दूसरे बदमाश लडके उसे बहुत तंग करते थे। अतएव वह किसी एकान्त स्थान पर जाने को तैयार हुआ। एक दिन फिरते फिरते उसने एक आश्रम देखा। इस आश्रम मे पालिमान नामक एक महात्मा रहते थे। डुबाल ने देखा कि यह आश्रम पूर्ण रूप से एकान्त में है। इसमें किसी प्रकार की गड़बड़ नहीं है। इसी कारण उसने मनमें निश्चय किया कि यदि महात्मा जी रहने की आज्ञा दे दें तो मैं इसी मे रह कर अपना पढ़ना आरम्भ करू। यह विचार कर उसने जाकर पालिमान से अपने मन की बात कही। उन्हों ने उसे रहने की आज्ञा दे दी और साथ ही अपना कुछ काम काज भी उसे सौप दिया, जिससे सरलता पूर्वकउसका जीवन निर्वाह होने लगे। परन्तु थोड़े ही दिनों में आश्रम के अधिकारियों ने

कामकाज के लिए वहां एक दूसरे आदमी को नियुक्त कर दिया। डुबाल के जीवन-निर्वाह का उपाय जाता रहा और इसी कारण आश्रम में रह कर निर्विघ्नता के साथ उसे अध्ययन करने का जो अवसर मिला था उसमें बाधा आ पड़ी। डुवाल इस बात से बड़ा दुःखित हुआ। महात्मा जो बड़े ही दयालु थे। वे भी डुवाल के दुःख से दुःखित हुए। उन्होंने अधिकारियों को एक पत्र लिख कर डुवाल को एक दूसरे आश्रम में भिजवा दिया। इस आश्रम मे कितने ही साधु संत ठहरते थे। उनके पास बहुत सी गाये भी थी। उन लोगों ने पालिमान के लिखने से उसे गायों की रखवाली और सेवा-सुश्रूषा के लिए अपने यहां रख लिया।

इस आश्रम के साधुसन्त विद्वान् न थे। परन्तु इनके पास अनेक अच्छी पुस्तके थीं। डुबाल की प्रार्थना पर उन्होंने उसे इन पुस्तकों के पढ़ने की आज्ञा दे दी। यह आज्ञा पाकर वह बड़ा ही प्रसन्न हुआ। वह अपनी इच्छा के अनुसार इन पुस्तकों को लेकर पढ़ने लगा। परन्तु, अभी तक उसे इतना ज्ञान नही हुआ था कि पुस्तको का सब तात्पर्य वह अपने आप ही समझ ले। अतएव जहाँ कही उसे समझ मे न आता था, वह उस स्थल को आश्रम देखने वाले मनुष्यों से पूछ लेता था।

वह आश्रम के काम के लिए बहुत कम वेतन पाता था। खानेपीने से बड़े कष्ट के साथ थोड़ा बहुत बचा कर वह आवश्यकीय पुस्तके अवश्य ही ख़रीद लेता था। अब वह अच्छी तरह से पढ़ने लगा था। अतएव उसकी इच्छा बहुत सी पुस्तकें इकट्ठी करने की हुई। आश्रम में अनेक असुविधाओं और कष्टों के होने पर भी उसने वहां गणित विद्या का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया।

किसी किसी नक़्शे के नीचे बड़े आदमियों की पोशाकों के चित्र बने हुए थे। उन चित्रों में कई प्रकार के पक्षी, सिंह, बाघ आदि भयानक जानवरों की आकृतियां बनी हुई थीं। इन आकृतियों को देख कर उसने आश्रम में आने वाले किसी व्यक्ति से पूछा कि पृथ्वी में इस प्रकार के जीव कहीं है या नहीं? उस व्यक्ति ने उत्तर दिया कि, प्राणिविद्या नामक एक शास्त्र है। उस शास्त्र में इन सब जीवों का पूरा पूरा विवरण है। यह सुनते ही उस ने उक्त शास्त्र का नाम लिख लिया और थोड़ी ही देर बाद नज़दीक के एक शहर में जाकर प्राणिशास्त्र की एक पुस्तक ख़रीद लाया। इस पुस्तक को पढ़कर उसने थोड़े ही समय में प्राणिविद्या का पूरा ज्ञान प्राप्त कर लिया।

ज्योतिष और भूगोल विद्या में उसका मन अधिक लगता था। वह रातको प्रायः समीप के जंगल में चला जाता और वहां अकेला बैठा हुआ आकाशमण्डल के तारागणों का निरीक्षण किया करता। इसी प्रकार वह रात की रात जंगल में बिता देता था। उसकी यह प्रबल इच्छा थी कि आकाशमण्डल के तारागणों का पूरा ज्ञान प्राप्त हो जाय। इच्छाशक्ति से प्रबल संसार में और कोई शक्ति नहीं। उसने सरलता से आकाशमण्डल का ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक ऊंचे पेड़ पर लकड़ियां आदि बाँध कर एक मचान बना लिया था।

धीरे धीरे उसका ज्ञान बढ़ने लगा। अब उसने अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए पुस्तकों का आश्रय लेना शुरू किया। परन्तु जो कुछ उसकी आमदनी थी, उससे यह अधिक

पुस्तकें नहीं ख़रीद सकता था। उसने अपनी आमदनी बढ़ाने का एक उपाय सोचा। उसने जंगल के पशुओं को पकड़ना शुरू किया। इन पशुओं अथवा इनके चमड़े को लेजाकर वह बाज़ार में बेचने लगा। इस काम से उसे जो कुछ मिलता उसे इकट्ठा करके वह अपनी इच्छित पुस्तकें ख़रीदता था।

जंगली जानवरों को पकड़ने के लिए जाकर वह कभी कभी बड़ी आफ़त में पड़ जाता था। परन्तु उस काम से उसने हाथ नहीं मोड़ा। एक दिन जंगल में घूमते घूमते उसने एक पेड में एक जंगली बिल्ली देखी। बिल्ली के शरीर के बाल उसे बड़े ही नर्म और चमकीले दिखलाई पडे। उसने विचार किया कि इस बिल्ली के चमड़े को बाज़ार में बेचने से मुझे कुछ अधिक पैसे मिलेंगे। यह निश्चय कर वह पेड़ पर चढ़ गया और सपाटे के साथ बिल्ली को पकडने लगा। बिल्ली उसका मतलब समझ कर एक डाल पर से दूसरी डाल पर कूदने लगी। कुछ देर बाद अधिक सताई जाने पर वह उस पेड़ से कूद कर भाग गई। डुवाल भी उसके पीछे हो लिया। बिल्ली एक मोटे से पेड के खोखले में घुस गई। उसने उसे बहुत कुछ हैरान करके बाहर निकाला। ज्योंहीं वह बाहर निकली त्योंहीं वह उसके हाथ से लिपट गई और नाखूनों और दांतों से चोट पहुंचा कर उसने डुवाल को घायल कर दिया। यहाँ तक कि उसके शरीर का कई जगह चमडा भी उसने नोच डाला। इतने पर भी डुवाल ने उसे नहीं छोड़ा। उसके पैर पकड़ कर उसने ज़मीन पर कई बार पछाड़ खिलाई और इस प्रकार उसे मार डाला। इस बिल्ली के चमड़े को बेंच कर पुस्तक ख़रीदूँगा—

यह सोच कर उसके मन में बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने शरीर की चोटों की ज़रा भी परवा न की।

वह जगली जानवरों के पकड़ने में इसी प्रकार संकट में पड़ जाया करता था और लुनिविल नगर मे जाकर उनके चमड़ों को वेचकर पुस्तके ख़रीद लाता था। अन्त में उसके पास पुस्तकों का एक अच्छा संग्रह हो गया। एक जंगल मे फिरते फिराते घास पर पैर रखते ही उसे ज़मीन पर एक चमकती हुई वस्तु दिखलाई पड़ी। उसने फौरन ही उसे हाथ मे उठा लिया और देखा तो वह सोने का एक पाँसा था। उसका चेहरा चमकने लगा। यदि वह चाहता तो इस सोने के पांसे को अपनी गांठ मे करता परन्तु वह दूसरे की चीज़ को दबा लेना महापाप और अन्याय समझता था, इसी कारण उसने रविवार को लुनिविल के गिरजेघर मे जाकर वहाँ के पादरी से प्रार्थना की कि, महाशय, मुझे जंगल में सोने का एक पाँसा मिला है। आप कृपा कर इस गिरजेघर मे आने वाले सब लोगों को इस बात की सूचना दे दें कि जिसका वह हो वह मेरे पास से उसे ले जाय।

कितने ही दिनों बाद इंगलैंड का फारस्टर नामक एक मनुष्य घोड़े पर चढ़ा डुवाल के पास पहुँचा। उस से मिल कर आदमी ने अपना सोने का पांसा मांगा। डुवाल ने उससे कहा, महाशय, आप कृपा कर के पहले प्राणिविद्या के अनुसार अपने पालतू जानवर के चिह्नों का वर्णन करे तो मैं आपको आपकी चीज़ सौपूँ। यह सुन कर उस मनुष्य ने कहा—"लड़के, तू मेरी हँसी करता है! प्राणिविद्या के विषय में तुझे क्या ज्ञान हो

सकता है।" डुवाल ने उत्तर दिया-चाहे जो हो, आप यदि अपने पालतू जानवर के चिह्न न बतलायेंगे तो मैं आप को आपकी चीज़ कभी न लौटाऊँगा।

डुवाल की यह बात सुन कर फारस्टर को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उसके ज्ञान की परीक्षा लेने के लिए पहले उस से कई एक सवाल पूछे। डुवाल ने फौरन ही उसके सब सवालों का उत्तर दे दिया। उत्तर सुन कर फारस्टर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने शीघ्र ही उसे अपने पाँसे के सब चिह्न बतला कर उसकी इच्छा पूर्ण की। इसके अनन्तर डुवाल ने हर्ष के साथ फारस्टर को उसकी वस्तु सौंप दी। विदा होने समय फारस्टर ने डुवाल से कहा—कभी कभी तुम मुझ से मिलने के लिए लुनिविल में अवश्य आया करना। इसी के अनुसार डुवाल कभी कभी लुनिविल में उससे मिलने जाया करता था। फारस्टर हर वक्त मिलते समय डुवाल को एक रुपया देता था। इस प्रकार फारस्टर से द्रव्य और पुस्तकें लाला कर डुवाल ने अपने 'सेंट एन' के निवास स्थान में कोई चार सौ पुस्तकें इकट्ठी कर लीं। इन पुस्तकों में विज्ञान तथा इतिहास विषय की उत्तमोत्तम पुस्तकें थीं।

डुवाल धीरे धीरे २२ वर्ष का हुआ। परन्तु इस समय तक उसने अपनी दरिद्रता को दूर करने का उपाय मन में नहीं सोचा था। वास्तव में वात यह थी कि ज्ञान उपार्जन के अतिरिक्त और सब विषयों से वह विरक्त था। रात दिन वह अपने इसी कार्य में लगा रहता था। प्रति दिन गायों को चराते समय वह वृक्ष के नीचे बैठ कर अपने चारों ओर नक़शे और पुस्तकें फैला लेता था। गायों की रखवाली का

ज़रा भी ध्यान न रख कर वह केवल अपने अभ्यास में ही मस्त रहता था। गायें अपनी इच्छानुसार जङ्गल में इधर उधर चरा करती थीं।

एक समय इसी प्रकार बैठा हुआ वह गायें चरा रहा था कि इतने ही में एक स्वरूपवान मनुष्य उसके सामने आ कर खड़ा हो गया। डुवाल को देख कर उसके हृदय में अत्यन्त करुणा और आश्चर्य का भाव उदय हुआ। यह आदमी 'लोहेत' के राजकुमार का शिक्षक था। इसका नाम कौंट विडास्पियर था। वह राजकुमारों और अन्य शिक्षकों के साथ जङ्गल में शिकार खेलने आया था। वह और उसके साथी सब यहां आकर रास्ता भूल गये थे। कौंट महाशय विखरे हुए वालों वाले इस दीन हीन चरवाहे के चारों ओर पुस्तके और नक़्शे फैले हुए देख कर बड़े चकित हुए। उसकी इस अद्भुत दशा को देख कर उन्होंने अपने साथियों को भी वहीं वुला लिया और सब लोग उसे चारों ओर से घेर कर खड़े हो गये। यहां यह वतला देना आवश्यक है कि इन राजकुमारों मे से ही एक 'मेरिया पेरिसा' के साथ शादी कर के अन्त मे जर्मनी का वादशाह हुआ था।

डुवाल का कार्य देख कर सभी एकदम मुग्ध हो गये। अन्त में कई एक प्रश्नों के पूछने के अनुसार जब उन्हें डुवाल के ज्ञान और जीविका निर्वाह का ज़रिया मालूम हुआ तब तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सब से बड़े राजकुमार ने उसी समय उससे कहा कि, तुम मेरे साथ चलो। मैं तुम्हें एक अच्छा सा कार्य सौंप दूँगा। डुवाल ने कई धर्मपुस्तकों में पढ़ा था कि राजा की नौकरी करने से धर्म का नाश होता है। इसके सिवा उसने 'नैन्सी' भी देख रक्खा था।

उसे मालूम था कि बडे आदमियों के नौकर विशेषकर चालाक और लड़ाके होते हैं। अतएव उसने राजकुमार से कहा—राज सेवा करने की मेरी इच्छा नहीं। मैं तो हमेशा जङ्गल में रहकर गायें चराता हुआ शान्त जीवन व्यतीत करूँगा। अपनी इस अवस्था में मैं बहुत ही सुखी हूं। साथ ही उसने यह भी कहा कि यदि कोई महानुभाव मुझे उत्तम उत्तम पुस्तकों के पढने और अधिक विद्या प्राप्त करने का प्रबन्ध कर दें तो मैं उनके साथ चलने को सहर्ष तैयार हूं।

राजकुमार डुवाल का यह उत्तर सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुए। वे उसे साथ लेकर अपनी राजधानी में पहुँचे। वहाँ उन्होंने उसे नियम के साथ पढ़ाने के लिए अच्छे २ पण्डितों और उपदेशकों का प्रबन्ध अपने पिता ड्यूक को राज़ी करके कर दिया। वह पोंट नगर की एक उत्तम पाठशाला में भेज दिया गया।

डुवाल ने वहां दो वर्ष रहकर ज्योतिष, भूगोल, इतिहास और पौराणिक कथाओं का अच्छी तरह से अध्ययन किया। इसके अनन्तर सन् १७१८ के अन्त में ड्यूक जब पेरिस नगर को आये तब उनकी आज्ञा से वह भी उनके साथ हो लिया। उसका अभिप्राय यह था कि वहां के पण्डितों से कुछ और अध्ययन करूं। दूसरे वर्ष वह वहाँ से लूनिविल को लौट आया। ड्यूक ने उसे हज़ार रुपये मासिक वेतन पर अपने पुस्तकालय का अध्यक्ष बना दिया। साथ ही सात सौ रुपये मासिक पर विद्यालय में उसे इतिहास का अध्यापक भी नियुक्त कर दिया। बिना किसी नियम की पाबन्दी के राज-महलों में रहने की उसे आज्ञा मिली।

डुवाल इतिहास की इतनी उत्तम शिक्षा देता था कि उस की इस विषय की ख्याति चारों ओर फैल गई। बहुत से विदेशी विद्यार्थी भी लुनिविल में आकर उसकी शिक्षा ग्रहण करने लगे।

डुवाल स्वभाव से बहुत नम्र और मनुष्यों को प्रसन्न करने वाला व्यक्ति था। अपनी पहली अवस्था का वर्णन करते समय वह जरा भी नहीं शर्माता था और न दुखी होता था, प्रत्युत उसे बहुत प्रसन्नता होती थी। कारण, वह उस अवस्था में भी अपनी इच्छा के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने में तत्पर रह सकता था। धीरे धीरे वह इतना अधिक ज्ञान प्राप्त कर सका था कि उस अवस्था को वह अपने भाग्य का ही कारण समझता था।

उसने अपने पहले के सग्रह किये हुए धन से 'सेंट एन' के आश्रम को फिर से बनवाया और अपने रहने के लिए भी वहीं एक मकान बनवाया। इसके अनन्तर उसने उस वृक्ष का, अपनो उस अवस्था के चित्र के साथ, एक उत्तम चित्र तैयार कराया जिसके नीचे बैठकर राजकुमारों और उन के अध्यापकों के साथ उसने वातचीत की थी। डयूक की सम्मति लेकर उसने अपना वह चित्र पुस्तकालय में लगा दिया। थोड़े समय बाद वह अपनी जन्मभूमि को देखने की इच्छा से वहाँ गया और जिस घर मे वह पैदा हुआ था। उसे पाठशाला के काम मे आने के लिए अच्छी तरह से बनवा दिया। साथ ही ग्राम के लोगों के पानी के कष्टों को दूर करने के लिए अपने ही ख़र्च से कई एक कुएं भी खुदवा दिये।

सन् १७३८ ई० मे डयूक की मृत्यु के वाद उसके वारिसों ने लोरेन के बदले टस्कानी देश का आधिपत्य ग्रहण किया।

इसलिए राजकीय पुस्तकालय भी फ्लोरेन्स पहुँच गया। डुवाल वहाँ पहले ही की तरह पुस्तकाध्यक्ष का कार्य करने लगा। उसके योग्य स्वामी ने हंगरी की रानी के साथ व्याह कर के एक बड़ी बादशाहत का पद प्राप्त किया। उस समय उनकी इच्छा वियना नगर के पुराने और नये सिक्कों तथा पृथ्वी के अन्य भागों के सब प्रकार के सिक्कों के एकत्रित करने की हुई। डुवाल को सिक्कों की खोज का बड़ा शौक़ था। अतएव राजा ने उसे ही इस विभाग का मुखिया बना कर अपने राजमहल के अत्यन्त निकट ही एक मकान इसके लिए बनवा दिया। डुवाल बहुत करके सप्ताह में एक दिन राजा और रानी के साथ भोजन भी किया करता था।

उसकी अवस्था में इस प्रकार का परिवर्तन हो जाने पर भी उसके स्वभाव और चरित्र में ज़रा भी फ़र्क़ नहीं पड़ा। यूरोप के अत्यन्त विलासिताप्रिय नगर में रहने पर भी वह लोरेन में जिस प्रकार शुद्ध और निर्मल रहकर विद्योपार्जन में निमग्न रहता था उसी प्रकार बना रहा। राजा और रानी उसके गुणों पर बड़े ही प्रसन्न थे। सन् १७५१ ईसवी में राजा ने उसे अपने पुत्र का शिक्षक नियत किया। पर, किसी कारणवश उसने इस सम्मान के पद को स्वीकार नहीं किया। राज कुटुम्ब में वह इतना कम आता जाता था कि किसी भी राजकुमारी को नहीं पहचान सकता था। एक समय उसकी यह बात प्रकट भी हुई थी। एक राजकुमारी ने कहा था कि डुवाल मेरी बहिनों को नही पहचानता, इसमें मुझे कोई आश्चर्य नहीं। बात तो यह है कि मेरी बहिनें पुराने समय की नही हैं।

एक दिन वह बिना कुछ कहे सुने जल्दी से जाने लगा। यह देख कर बादशाह ने पूछा, आप कहां जा रहे हैं?

डुवाल ने कहा, ग्राब्रिलि का गाना सुनने । बादशाह ने कहा, वह तो अच्छा नहीं गाती । पर, वास्तव में वह अच्छा गाती थी । अतएव डुवाल ने उत्तर दिया कि मैं महाराज से विनय के साथ कहता हूं कि अब ऐसी बात खुले तौर से न कहियेगा । राजा ने कहा, क्यों ? डुवाल ने कहा, कारण यह है कि महाराज की बातों पर सभी विश्वास करते हैं, परन्तु इस बात में कोई भी विश्वास न करेगा । आप पर से विश्वास उठ जायगा । डुवाल कभी सम्मान की इच्छा से हाँ हुज़ूर, हाँ हुज़ूर, नही करता था ।

इस धर्मात्मा महापुरुष ने अपने जीवन की अन्तिम घड़ी तक सुख और शांति से बिता कर सन् १७७५ ईसवी में, ८१ वर्ष की अवस्था में, शरीर त्याग किया । जो लोग उसे अच्छी तरह से जानते थे, वे लोग इसकी निधन वार्ता सुन कर बड़े शोकाकुल हुए । एम० डी० रोश नामक उसके एक मित्र ने उसकी मृत्यु के अनन्तर उसके सर्व ग्रन्थों को संग्रह किया और दो भागों में उन्हें छपवा कर प्रकाशित किया । सरके-सिया देशकी एक विदुषी स्त्री द्वितीय कैथराइन के सूया के गृह की संरक्षिका थी । उसके साथ डुवाल के जीवन के अन्तिम तेरह वर्ष तक जो पत्र व्यवहार हुआ था वह भी प्रकाशित किया गया । सब स्वीकार करते हैं कि दोनों ओर से असाधारण वुद्धि निपुणता प्रकट की गई थी । वृद्धावस्था में रूपवती युवा स्त्रियों के साथ 'प्रिय मेडम' कह कर बातचीत करना दोषजनक नहीं । अतएव वह उपर्युक्त स्त्री और अन्यान्य गुणवती स्त्रियों को, जिन्हें वह चाहता था, प्रिय मेडम कह कर पुकारता था ।

इन बातो से मालूम होता है कि डुवाल स्त्रियों के सहवास से विरक्त न था । पर, उनके विशेष मनोरञ्जन के लिए वह कभी अपनी पोशाक पर ध्यान नही देता था । यहाँ तक कि मरते समय तक उसका वेश और चाल चलन पहले ही की तरह ग्रामीण बना रहा । वह किसान की तरह जीवन निर्वाह करता था और साधारण कपड़े, लम्बे बाल और काले रंग का जूता पहिनता था । उसके हाथ मे लोहे के काँटों वाली मोटी लकड़ी रहती थी । वह पोशाक पहनने के विषय में इतना लापरवाह था कि वह किसी प्रकार बनावटी नहीं मालूम होती थी । उसके जीवन की प्रारम्भिक अवस्था पर विचार करने से मालूम होगा कि वह केवल अपने निर्मल ज्ञान के प्रकाश और नम्र स्वभाव से पोशाक के सम्बन्ध में इस प्रकार लापरवाह रहता था । इस विषय का एक उदाहरण सुनिये । उसके एक नौकर था जिसे वह मित्रवत मानता था । नौकर का विवाह हो गया था, अतएव हर रोज उसे जल्दी से घर जाने की आज्ञा रहती थी । उसके चले जाने के बाद डुवाल अपने हाथ से ही सादगी के साथ थोड़ा सा भोजन बना लेता था ।

डुवाल अपने असाधारण परिश्रम तथा उद्योग से धीरे धीरे अनेक प्रकार की विद्यायें प्राप्त कर उस समय के सब मनुष्यों से अधिक ज्ञानवान हो गया था । राजाओं के साथ बहुत समय तक रहने से प्रायः सभी मनुष्य अहंकारी और बुरे कार्यों में फँस जाते हैं, परन्तु पचास वर्ष तक निरन्तर राजा के साथ रह कर एक क्षण भर के लिए भी डुवाल ने अपने चरित्र की निर्बलता नही प्रकट की । उसकी प्रकृति जैसी लोरेन में रह कर गायें चराने के समय थी वैसी ही

अन्त समय तक बनी रही। वह अपनी पहली ग़रीबी अवस्था में जिस प्रकार सरल, संतोषी और शांत चित्त वाला था उसी प्रकार अपनी अन्तिम घड़ी तक बना रहा।

जगन्नाथ तर्कपंचानन।

बंगाल के त्रिवेदी नामक ग्राम में, रुद्रदेव तर्कवागीश नामक एक पंडित रहते थे। ये धनी व्यक्ति न थे। क्रियाकाण्ड तथा शिष्यों और यजमानों से कुछ मिल जाता था, उसी के द्वारा बड़े कष्ट से, ये अपने कुटुम्ब का पालन पोषण करते थे। दीनता के कारण रुद्रदेव पर अनेक प्रकार की सांसारिक विपत्तियां आ पड़ती थीं, परन्तु अपनी सहनशीलता के गुण से ये उन्हें शान्तिपूर्वक सह लेते थे। उनका हृदय दुःख के समय कभी धैर्यहीन न होता था। साथ ही अपनी कर्तव्य बुद्धि को भी वे किसी बुरे कार्य की ओर कभी नहीं झुकाते थे। वे हर समय धैर्य के साथ अपना काम करते थे। संस्कृत में रुद्रदेव अच्छे प्रवीण थे। बहुत से विद्यार्थी उनके पास पढ़ा करते थे। विद्यार्थियों को वे बड़े प्रेम से पढ़ाते थे। अनेक प्रकार के सांसारिक दुःख पाने पर भी रुद्रदेव कभी शास्त्रों की चर्चा से विरत नहीं हुए। वास्तव में, उन्हें शास्त्रों के अवलोकन करने में बड़ा आनन्द प्राप्त होता था। संस्कृत भाषा में उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं। इस प्रकार पढ़ने पढ़ाने और ग्रंथों के लिखने में ही उनका समय व्यतीत हुआ।

निर्धनी ग़रीब होने के दुःख की अपेक्षा रुद्रदेव को कोई संतान न होने का दुःख अधिक था। उनका युवापन बीत

चुका था। पर, इस समय तक भी पुत्र का मुख देख कर वे तृप्त न हो सके। धीरे धीरे बुढ़ापा भी आ पहुंचा। रुद्रदेव अत्यन्त वृद्ध हो गए। भाग्यवश जीवन की इस अंतिम अवस्था में उनका मनोरथ पूर्ण हुआ। जिस समय रुद्रदेव की अवस्था ६५ वर्ष की हुई, उस समय ईसवी सन् १६६५ में उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम उन्होंने जगन्नाथ रक्खा।

अंतिम अवस्था में पुत्र का मुख देख कर रुद्रदेव को बड़ा आनंद हुआ। अब केवल पुत्र के लालनपालन एवं प्यार करने का काम उनको रह गया। जगन्नाथ माता पिता के बड़े प्रिय थे, और यही कारण है कि इस अधिक स्नेह से उसका स्वभाव बिगड़ गया। बचपन में जगन्नाथ बहुत दुष्ट और बुरे स्वभाव वाला हो गया था। वह जिस प्रकार पत्थर और ईंटें फेंक कर मुसाफिरों को तकलीफ पहुंचाता उसी प्रकार गाँव की स्त्रियों के मट्टी के घड़ों को भी पत्थर मार कर फोड़ डालता था। गांव के अन्यान्य बालकों को भी पकड़ कर खूब मारता पीटता था। अपनी माँगी हुई चीज़ के न मिलने पर माता को भी वह बहुत कष्ट देता था। आज तक त्रिवेदी गांव के रहने वाले, बात चलने पर, उसकी इन बातों का खूब वर्णन करते हैं। अड़ोसी पड़ोसी भी जगन्नाथ के दुर्व्यवहार से हमेशा डरा करते थे। जगन्नाथ यह सब देख कर आनंद में मग्न हो जाता था। पिता उसे समझाते थे, किन्तु उनकी बातों के सुनने के लिए वह बहरा हो जाता था। माता जगन्नाथ को गोद में लेकर उपदेश देती थी तो जगन्नाथ उसकी बातों पर ज़रा सा हँस कर उन्हें सुनी अनसुनी कर देता था। एक समय 'बाँस बेड़िया' नामक

ग्राम के देवी के मंदिर के पुजारी से जगन्नाथ ने क्रोधित होकर पत्थर की देवमूर्ति चुरा कर तालाव में डाल दी। मूर्ति के चोरी जाने से पुजारी बड़ा दुखी हुआ। वह जगन्नाथ का स्वभाव जानता था। अतएव उसी को मूर्ति को चुराने वाला समझ कर वह उससे मूर्ति ला देने की विनयपूर्वक प्रार्थना करने लगा। जगन्नाथ पहले राज़ी न हुआ। अंत में जब पुजारियों ने हर वर्ष उसे एक बकरा भेंट में देने का वचन दिया तब उसने देवमूर्ति तालाव से निकाल कर उन्हें सौंप दी। इस प्रकार दुष्टता और अन्याय से उसने अपना बचपन बिताया।

रुद्रदेव ने जगन्नाथ को पांच वर्ष की ही उम्र से पढ़ाना शुरू कर दिया था। जगन्नाथ को पाठ याद करने में देर नहीं लगती थी। उसकी बुद्धि बड़ी तेज़ थी, साथ ही वह निर्मल भी। पढ़ने में जगन्नाथ मन भी कुछ अधिक लगाता था। उसने पिता से पहले व्याकरण और कोष पढ़ कर कंठस्थ किया था। उसके अनंतर साहित्य के कितने ही ग्रन्थ देखे। पढ़ी हुई पुस्तकें इस बालक को कंठस्थ हो जाती थीं। पहले जिन ग्रंथों को उसने देखा भी नहीं था उन्हें भी पढे हुए की तरह पढ़ जाता था। एक रोज़ गांव के कितने ही रहने वाले जगन्नाथ के जुल्मों से दुःखी होकर रुद्रदेव के पास शिकायत करने गये। रुद्रदेव लडके की इस बुरी आदत से बड़े दुःखी रहते थे। उन्होंने लोगों की फरयाद सुन कर जगन्नाथ को बहुत बुराभला सुनाया और कहा कि, तू पढ़ने लिखने में ज़रा भी ध्यान नहीं देता। जा, पुस्तक लाकर पढ़ तो। जगन्नाथ धीर भाव से पुस्तक ले आया और पहले जिसे पढ़ा नहीं था उसे कंठ करके उसकी व्याख्या

करने लगा । रुद्रदेव पुत्र की इस असाधारण शक्ति और अपनी आज्ञा का पालन देख कर बहुत ही विस्मित एवं प्रसन्न हुए। उन्हें दृढ़ निश्चय हो गया कि समय पाकर जगन्नाथ एक असाधारण पण्डित होगा। रुद्रदेव का यह विश्वास निराधार नहीं था। समय पाकर जगन्नाथ वास्तव में असाधारण विद्वान् हुआ और सारी पण्डितमण्डली में उसने प्रसिद्धि प्राप्त की ।

जिस समय जगन्नाथ की अवस्था आठ वर्ष की हुई, उस समय, उसकी माता की मृत्यु हो गई। इतनी कम उम्र में माता के मर जाने से जगन्नाथ पिता का और भी स्नेह-भाजन बन गया। इस समय उसकी एक मौसी उसे अपने पुत्र की तरह पालने लगी। माता के वियोग के कारण पिता के इतने अधिक स्नेह ने एक आठ वर्ष के बालक को उद्दण्ड बनाने में बहुत सहायता की। चाहे जो हो, पर जगन्नाथ पिता से साहित्य, व्याकरण और कोष वगैरह की प्रारम्भिक पुस्तकें पढ़कर अपने बड़े चाचा भवदेव न्यायालंकार की 'बांसबेड़िया' ग्राम की पाठशाला में स्मृतिशास्त्र पढ़ने लगा। असाधारण बुद्धि और उत्तम प्रतिभा के कारण उसकी इस शास्त्र में भी अच्छी निपुणता हो गई। उसने धीर भाव से इस शास्त्र पर विचार करके अपनी असाधारण विद्वत्ता प्रकट की। धीर भाव से स्मृतियों के कठिन विषय का उत्तम वर्णन करके वह व्यवस्था भी देने लगा। उस समय उसकी उम्र १२ वर्ष से अधिक न थी । बारह वर्ष के बालक को इस प्रकार का बढ़ाचढ़ा स्मृतिज्ञाता देख कर सभी को आश्चर्य होने लगा ।

ईसवी सन् १७०० में जगन्नाथ विवाह के बंधन में फँसा। पास के एक ग्राम की कुलीन कन्या के साथ उसका विवाह हुआ। इस समय जगन्नाथ की उम्र चौदह वर्ष की थी। जराजीर्ण पिता का यह इकलौता पुत्र था, इसी कारण इतनी छोटी उम्र में इसका विवाह हुआ। जगन्नाथ ने अपनी इस अवस्था में विवाह के सम्बन्ध की बातों पर अपनी सम्मति कुछ भी न दी। उसकी माता छोटी उम्र में मर गई थी। उसके पिता वृद्ध होकर अपने जीवन की अन्तिम घड़ी गिन रहे थे। इस दशा में उनका पुत्रवधू का मुख देखने का प्रबल मनोरथ पूर्ण हो, यह एक स्वाभाविक बात है। श्रीयुत रुद्रदेव ने अपने इस मनोरथ के विरुद्ध काम नहीं किया। उन्होंने नियमपूर्वक अपने प्यारे पुत्र का एक सुलक्षणा एवं गुणवती कुमारी के साथ ब्याह किया और इस प्रकार सफल मनोरथ हुए।

बचपन में, ब्याह हो जाने पर भी, जगन्नाथ के विद्याभ्यास में कोई फ़र्क नहीं पड़ा। स्मृति का अध्ययन समाप्त करके जगन्नाथ अपने गांव को लौट आया और वहां रघुनाथ तर्कवाचस्पति की पाठशाला में न्याय-शास्त्र पढ़ने लगा। संस्कृत भाषा में न्याय बहुत कठिन और गम्भीर विषय है। कुशाग्र बुद्धि वाले ही इसके लिए प्रवेश कर सकते हैं। जगन्नाथ में बुद्धि की कमी न थी। अतएव थोड़े ही समय मे उसने न्याय-शास्त्र में योग्यता प्राप्त करली और एक प्रसिद्ध नैयायिक होगया। साधारण नैयायिकों की तरह उसमें केवल वाचालता अथवा पण्डितपने का झूठा अभिमान न था। नैयायिकों की बुद्धि तीक्ष्ण होने पर भी स्थिर नहीं होती। अनेकों शास्त्रों के

देखने पर भी उन में युक्ति दिखलाने की शक्ति नहीं होती। जगन्नाथ इन अभिमानी पण्डितों से सब प्रकार बढ़ा चढ़ा था। उसकी बुद्धि स्थिर थी। अनेक शास्त्रों में प्रवेश होने के कारण युक्ति दिखलाने में भी वह पूर्ण समर्थ था। सुना जाता है कि न्याय शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ करने के बाद नवद्वीप के एक न्याय शास्त्री को न्याय में पराजित करके उसने सन्तुष्ट किया था। यह शास्त्री प्रसिद्ध विद्वान् जगदीश तर्कालङ्कार * का नाती था। रमावल्लभ एक समय रघुनाथ की पाठशाला में आकर अतिथि बनकर ठहरा था। उसने बड़े अभिमान के साथ न्याय शास्त्र पर विचार करना प्रारम्भ किया और सब विद्यार्थियों को पराजित करके लज्जित कर दिया। विद्यार्थियों को पराजित हुए देख कर रमावल्लभ वहां क्षण भर भी नहीं ठहरा। बड़े अभिमान के साथ वह वहां से विदा होकर चलने लगा। जगन्नाथ उस समय भोजन करने के लिए घर गया हुआ था, अतएव उसे शास्त्रार्थ के विषय मे कुछ भी नही मालूम था। अंत में पाठशाला में आने पर उसने सब बातें सुनीं। आये हुए पण्डित अतिथ्य न ग्रहण करके बिदा हो गये, यह सुन कर जगन्नाथ के हृदय में बड़ी चोट लगी। वह रमावल्लभ से मिलने के लिए पाठशाला से रवाना हुआ। मार्ग मे रमावल्लभ से जगन्नाथ का मिलाप हुआ। रमावल्लभ ने जगन्नाथ को देखते ही न्याय शास्त्र का प्रश्न उठाया। जगन्नाथ न तो लज्जित हुआ और न घबड़ाया। बड़ी सूक्ष्म युक्ति के

* जगदीश तर्कालंकार नवद्वीप के एक प्रसिद्ध नैयायिक विद्वान थे। इन्होंने न्याय शास्त्र पर एक टीका लिखी थी और विद्वानों में अच्छी प्रसिद्धि पाई थी।

साथ वह अपने प्रतिवादी के प्रत्येक वाद का खंडन करने लगा। रमावल्लभ जगन्नाथ की शास्त्र ज्ञान की गम्भीरता, युक्ति दिखाने की चतुरता और सूक्ष्म विचार को देख कर आश्चर्य से चकित हो गया। वह जगन्नाथ के मुख से कठिन न्याय शास्त्र की सुन्दर और सरल व्याख्या सुनता हुआ पाठशाला में लौट आया। इसके अनंतर उसका पहले की तरह उद्धत भाव न रहा। नवद्वीप का एक प्रसिद्ध नैयायिक सोलह वर्ष की उम्र वाले बालक द्वारा न्यायशास्त्र के विचार में पराजित होकर बड़े सतोष के साथ त्रिवेणी की पाठशाला का अतिथि बना।

जगन्नाथ ने इस प्रकार सात आठ वर्ष पर्यंत त्रिवेणी का पाठशाला में न्याय और अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया। शास्त्र के अनुशीलन तथा शास्त्र की बातों से उसके चित्त में बड़ा आनंद पैदा होता था। वह बड़े ध्यान के साथ सब शास्त्रों का आदि से अन्त तक अध्ययन करता था। शिक्षा ने उसके अंतःकरण को प्रशस्त कर दिया था, उसने उसकी विचार शक्ति को स्वच्छ करके उसके स्वभाव को प्रगाढ़ कर्तव्य ज्ञान में लगा दिया था। वह कार्य के सिद्ध करने में निश्चल, सहनशील और उद्योगी था। जिसके साथ एक बार भी उसकी शास्त्र सम्बंधिनी चर्चा हुई वह उसे असाधारण विद्वान के समान सम्मान देने लगता था। इस प्रकार उसकी विद्वत्ता की प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई। वह बचपन में जैसा दुष्ट कर्म करने वाला था, जवानी में वैसा ही सुशील, सत्कर्मनिष्ठ और शास्त्र की आलोचना में तल्लीन रहता था।

धीरे धीरे रुद्रदेव का अन्तिम समय आ पहुंचा । नब्बे वर्ष पर्यंत जीवित रह कर उन्होंने संसार का त्याग किया । रुद्रदेव बहुत ही ग़रीब मनुष्य थे । इस कारण पुत्र के लिए वे कुछ भी सम्पत्ति न छोड़ गये थे। परन्तु इससे उन्हें कुछ भी दुःख नहीं हुआ । क्योंकि वे जानते थे कि मैंने अपने पुत्र को विद्या देकर संसार की सारी सम्पत्ति दे दी है। उनका दृढ़ विश्वास था कि जगन्नाथ अपने विद्या-बल से विना किसी कष्ट के अच्छी तरह से अपना निर्वाह कर लेगा । इस प्रकार अपने विश्वास का आधार रख कर वे हमेशा सतुष्ट रहते थे । किसी प्रकार की व्यथा अथवा चिन्तन ने एक दिन के लिए भी उनकी प्रसन्नता में कोई कमी नहीं की । वे बड़े संयमशील थे । वे जिस अवस्था में पले हुए थे, जिस अवस्था ने मुट्ठी भर अन्न के लिए उनके शरीर को पर सेवा में नियुक्त किया था, उस अवस्था के लिए भी वे कभी दुःख नही प्रकाशित करते थे । उनका शान्त भाव अटल रहा । वे उत्तम पुत्र रत्न को पाकर अपने आप को बड़ा भाग्यशाली और धनवान् समझते थे। इसी कारण वे बड़े सुखी और सन्तुष्ट रहते थे । दीन अवस्था के बुरे विचार ने उनके प्रसन्न आनन को कभी म्लान नही किया। पिता की मृत्यु के समय जगन्नाथ की अवस्था चौबीस वर्ष की थी। इस युवावस्था में संसार का भार पड़ने से उसे चारों ओर अँधेरा दीखने लगा । घर में कुछ भी न था । जगन्नाथ ने सब कुछ बेच कर पिता का श्राद्ध कर्म किया । सब कुछ विक जाने के कारण जगन्नाथ के दुःख का पार न रहा। भोजन के लिए अन्न मिलना भी मुश्किल हो गया । वह दूसरों से अन्न आदि उधार लेकर काम चलाने लगा । इस

दुरवस्था में पड़ जाने के कारण उसे पैसा कमाने का मार्ग सोचना पड़ा। अतएव जगन्नाथ ने पाठशाला छोड़ दी। उस समय अध्यापक ने उसे तर्कपञ्चानन की उपाधि दी।

जगन्नाथ तर्कपंचानन ने किसी तरह एक पाठशाला खोल कर विद्यार्थियों को पढ़ाना प्रारम्भ किया। उसके पढ़ाने के गुण से दूर दूर के विद्यार्थी उसके पास पढ़ाने के लिये आने लगे। जगन्नाथ नियमपूर्वक सबको पढ़ने लगा। अद्भुत विद्वत्ता के बल से धीरे धीरे उसकी प्रसिद्धि बढ़ चली। अनेकों स्थानों से लोग उसे बुलाने लगे। धर्मात्मा ज़मीदार लोग उसे ज़मीन और सम्पत्ति देने लगे। अतएव रुद्रदेव की जो आशा थी वह सफल हुई। अपनी विद्या और बुद्धि के बल से जगन्नाथ तर्कपंचानन बड़ी भारी सम्पत्ति का अधिकारी हो गया।

अच्छे विद्वान और शास्त्रज्ञ होने के कारण जगन्नाथ ऐसे सम्मान के पात्र हुए कि बड़े बडे मनुष्य भी उन्हें बड़ा सम्मान देने लगे। कलकत्ते के गवर्नर सर जान शोर+, चीफ जस्टिस सर विलियम जोन्स*, शोभा बाज़ार के राजा नवकृष्ण, बर्दवान के महाराजा त्रिलोक चद बहादुर,

---

+ सर जान शोर इस देश के राज कार्य में नियुक्त होकर आये थे और धीरे धीरे गवर्नर के पद तक पहुंचे थे। ये पहले पहल बनारस में ईस्ट इडिया कम्पनी की नौकरी में शामिल हुए थे। अन्त में ये लार्ड टेनमाउथ के नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

* सर विलियम जोंस कलकत्ते की सुप्रीम कोर्ट के जज थे। संस्कृत के वे विद्वान थे। उन्होंने अंग्रेजी में सस्कृत के अभिज्ञान शाकुन्तल का अनुवाद तथा और कई पुस्तकें लिखी थी।

दीवान नन्दकुमार, नवद्वीप के राजा कृष्णचन्द्र राय आदि बड़े बड़े लोग जगन्नाथ तर्कपंचानन का पूरा सम्मान करते थे। समय मिलने पर ये लोग जगन्नाथ से मिलने के लिए भी आते थे। उस समय हमारे देश के धनवान् विद्या का अच्छा सम्मान करते थे, उन लोगों में उस समय लक्ष्मी से सरस्वती का सम्मान अधिक होता था और वे देश के बड़े २ पण्डितों को धन और भूमि देकर निर्वाह का प्रबन्ध करते थे। इस प्रकार आर्थिक सहायता पाने से पण्डित लोग निश्चिंत होकर शास्त्र चर्चा करते थे। उन्हें किसी प्रकार की कमी न होने के कारण संसार की कुछ भी परवा नहीं होती थी। केवल सरस्वती देवी की उपासना में ही लगे रहना उनका मुख्य कर्तव्य और आनन्द का कारण होता था। वे निश्चिंत होकर इस उपासना में ही अपना समय व्यतीत करते थे और चित्त को वश में करके इस उपासना को करते हुए अपने देश और अपनी जाति की प्रसिद्धि करते थे।

जगन्नाथ तर्कपंचानन उस समय बङ्गाल में सब से बड़े पण्डितों और अध्यापकों में गिने जाते थे। परन्तु उनके पास पण्डितों की तरह सम्पत्ति न थी। अतएव, विद्या को बढ़ाने की इच्छा रखने वाले ज़मींदार लोग अपने धन से उनकी मदद करने लगे। जगन्नाथ के पास रहने के लिए एक पुरानी झोपड़ी थी। राजा नवकृष्ण ने उसके स्थान पर एक लम्बा-चौड़ा पक्का मकान बनवा दिया। उन्हीं की सहायता से जगन्नाथ ने नवरात्रि के दिनों में दुर्गोत्सव नामक देवी का एक उत्सव करना प्रारम्भ किया। इसके सिवा राजा नवकृष्ण उन्हें एक बड़ी उपजाऊ ज़मीन देने की इच्छा करने लगे। पर, जगन्नाथ यह अच्छी तरह से जानते थे कि पैसा अनेक प्रकार के

अनर्थों का कारण है। अतएव वे उस ज़मीन को लेने के लिए राज़ी नहीं हुए, पर राजा नवकृष्ण ने इस बात का ज़िम्मा लिया कि ज़मींदारी सम्बन्धी सब कामकाज उन्हो के हाथों से होकर केवल सम्पत्ति जगन्नाथ को मिल जाया करेगी। इस पर जगन्नाथ को भूमि लेना स्वीकार ही करना पड़ा। एक छोटा सा परगना लेकर राजा नवकृष्ण की इच्छा का उन्होंने आदर किया। नवद्वीप और बर्द्धवान के राजाओं ने भी राजा नवकृष्ण के इस उत्तम कार्य का अनुकरण किया। इन दोनों ने भी जगन्नाथ की असाधारण विद्या और पण्डिताई का उचित सम्मान दिखलाने के लिए बहुत सी ज़मीन उन्हें दान में दी।

सर जान शोर और सर विलियम जोंस की प्रार्थना से जगन्नाथ व्यवस्था सम्बन्धी दो बड़ी २ पुस्तकें + संग्रह करने लगे। जबतक वे यह काम करते रहे तब तक प्रति मास उन्हें पाँच सौ रुपये महीने मिलते रहे। इस संग्रह को बना चुकने के अनन्तर हर महीने उसको तीन सौ रुपये मासिक की पेंशन मुक़र्रर हुई। मि० जोंस से जगन्नाथ की विशेष मित्रता थी। वे और उनकी स्त्री प्रायः जगन्नाथ से मिलने जाया करते थे * सर विलियम जोंस

+ इन दोनो पुस्तकों के नाम 'विवाद का न्यायग्रन्थ' और 'विवाद भगार्णव' है। जगन्नाथ ने अनेकों सस्कृत पुस्तके लिखी थी, पर अध्यापन में उनका बहुत अधिक समय व्यतीत होता था। अतएव वे ग्रन्थ लिखने पर जितना चाहिए उतना अधिक ध्यान नहीं दे सकते थे।

* एक समय सर विलियम जोंस अपनी स्त्री के साथ जगन्नाथ तर्कपञ्चानन के घर गये। वहां एक मनुष्य ने उनसे पूजा की कोठरी मे

जगन्नाथ को इतना चाहते थे और उनका इतना आदर करते थे कि चोरों और डाकुओं के उपद्रव के समय उन्होंने अपनी ओर से वेतन देकर कितने ही सिपाही उनके घर की चौकी-दारी करने के लिए रख दिये थे। सब से बड़ी दीवानी अदालत के जज हारिङ्गटन के साथ भी जगन्नाथ को मित्रता थी। समय मिलने पर हारिङ्गटन जगन्नाथ के घर आते और हिन्दुओं के क़ायदे क़ानूनों में जहां कुछ सन्देह होता वहाँ की मीमांसा उनसे पूछ जाया करते थे। कचहरियों में जग-न्नाथ तर्कपञ्चानन की राय बड़े आदर के साथ ग्रहण की जाती था। हिन्दुओं के धर्मशास्त्र के सम्बन्ध में वे जो कुछ व्यवस्था देते थे, न्यायाधीश उसी के अनुसार काम करते थे। मुर्शिदाबाद के नव्वाब ने उन्हें एक अच्छी सी मोहर दे रक्खी थी। मोहर में खुदा था—"कवि विप्रेन्द्र श्रीयुक्त जग-न्नाथ तर्कपञ्चानन भट्टाचार्य.।" जगन्नाथ अपने व्यवस्था पत्रों पर यही मुहर लगाते थे।

इस प्रकार जगन्नाथ तर्कपञ्चानन सभी के सम्मान-पात्र हो गये। सभी लोग उन्हें आदर की दृष्टि से देखते और अत्यन्त योग्य पण्डित समझते थे। गृहस्थ होकर वे फिर कभी किसी बात के लिए दुखी नहीं हुए। जिस प्रकार उनकी आम-दनी बढ़ी उसी प्रकार वे अच्छे कामों में ख़र्च भी करते थे। उन

बठने की प्रार्थना की। इस पर जोंस की स्त्री ने सस्कृत में कहा—"आवां म्लेच्छो' अर्थात्, हम दोनो म्लेच्छ है। पूजा की कोठरी में बठने के अधिकारी नही है। इसके अनन्तर दोनों जगन्नाथ के अन्तःपुर में गये और वहाँ अनेक प्रकार के उत्तम वार्तालाप से सब को सतुंष्ट किया।

की पाठशाला में अनेकों विद्यार्थी रहते थे। उन्हें भोजन और वस्त्र आदि भी उन्हीं की ओर से दिया जाता था। उनके बहुत से विद्यार्थी बड़े बड़े पण्डित होकर प्रसिद्ध हुए थे। अपने धर्मानुसार क्रिया कर्म करने तथा अतिथि सेवा में भी जगन्नाथ का बहुत धन व्यय होता था। जगन्नाथ अत्यन्त दीन अवस्था से धीरे २ इतनी अधिक सम्पत्ति के अधिकारी हुए थे, परन्तु इतनी अधिक सम्पत्ति पाजाने पर भी उन्होंने कभी अभिमान नहीं किया। नम्रता और शीलता पुरानी झोपड़ी में रहते समय जिस प्रकार उनकी शोभा को बढ़ाते थे, उसी प्रकार इस सुन्दर भवन और प्रचुर सम्पत्ति में भी। अपनी अधिक अवस्था में जगन्नाथ पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र का मुख देख कर सब प्रकार से सुखी थे। उनके तीन पुत्र थे। उनका नाम कालिदास, कृष्णचन्द्र और रामनिधि था। मध्यम और छोटे पुत्र के अनेक पुत्र पौत्र हुए। मध्यम पुत्र के पुत्र का नाम घनश्याम सार्वभौम था। घनश्याम संस्कृत का अच्छा विद्वान् होगया था। प्रसिद्ध मिस्टर कोल ब्रुक साहब ने एक समय घनश्याम से सदर दीवानी अदालत के जज होने की प्रार्थना की, परन्तु घनश्याम ने इस ख़याल से कि कम्पनी की नौकरी करने से जाति से पतित हो जायँगे, इस उच्च पद को लेना स्वीकार नहीं किया। पर, अन्त में अपने मित्रों के बहुत कुछ कहने सुनने पर उसे यह पद स्वीकार करना ही पड़ा।

पौत्र और प्रपौत्र आदिकों से घिरे हुए जगन्नाथ तर्क-पञ्चानन की अन्तिम अवस्था आ पहुंची। इस समय तक उन्हें संसार के प्रायः सभी प्रकार के सुख मिल चुके थे। सन् १८०२ ईसवी में एक सौ ग्यारह वर्ष की अवस्था

प्राप्त कर उनकी मृत्यु हुई। इतनी अधिक आयु हो जाने पर भी जगन्नाथ की कोई इन्द्रिय कमज़ोर नहीं हुई थी और न शरीर में ही किसी प्रकार का विकार पैदा हुआ था। वे बलवान और परिश्रमी थे। उनकी दृष्टि और श्रवण शक्ति अन्त समय तक बड़ी तेज़ थी। मृत्यु से एक दो महीने पहले तक वे चार पांच कोस तक पैदल चल फिर सकते थे। पढ़ने के कार्य में उन्होंने कभी आलस्य नहीं दिखलाया। यथा समय और यथा नियम वे इस काम में लग जाते थे। केवल मृत्यु के एक मास पहले से वे इस कार्य से विरत हो गये थे।

जगन्नाथ तर्कपञ्चानन की स्मरण शक्ति बहुत ही तीव्र थी। कहते हैं कि शकुन्तला नाटक को वे आदि से अन्त तक बिना पुस्तक देखे पढ़ जाते थे। उनकी स्मरण शक्ति के विषय में एक बात और कही जाती है। एक दिन जगन्नाथ स्नान करके घाट पर बैठे हुए सन्ध्या पूजन आदि दैनिक कृत्य कर रहे थे। इतने ही में दो अंग्रेज़ एक नाव पर से उतर कर एक दूसरे के साथ लड़ने लगे। अन्त में, मारपीट की नौबत पहुंची। इस कारण एक अंग्रेज़ ने दूसरे अंग्रेज़ के विरुद्ध कचहरी में फर्याद की। फर्याद करने वाले ने कचहरी मे कहा कि, घाट पर और कोई नही था; केवल एक आदमी शरीर पर मिट्टी चुपड़े हुए बैठा था। यह मनुष्य जगन्नाथ तर्कपञ्चानन ही थे। न्यायाधीश के बुलाने पर साक्षी होकर उनको कचहरी में जाना पड़ा। वह अंग्रेज़ी नहीं जानते थे तो भी अपनी अद्भुत स्मृति शक्ति के बल से उन्होंने उन अंग्रेज़ों की घाट पर की सब बातें इतनी उत्तमता के साथ ज्यों की त्यों

बतला दी कि न्यायाधीश सुनकर बहुत ही चकित हुआ और जगन्नाथ को धन्यवाद देने लगा ।

जगन्नाथ ने अपनी बड़ी उम्र में बहुत सम्मान प्राप्त किया। परन्तु इस सम्मान का उन्होंने कभी दुरुपयोग नहीं किया। छोटे बड़े, अच्छे बुरे, सभी उनके पास आते थे। सभी उन्हें सम्मान देते थे। वे सब के साथ सरल हृदय से बातचीत करते थे। हँसने हँसाने में वे बहुत होशियार थे। पर बातचीत पड़ने पर चाहे कैसा भी प्रसङ्ग क्यों न हो वे प्रतिवादी को पराजित ही कर देते थे। बालक उनके प्रसन्न मुख और हँसी को देख कर आनन्दित होते थे, युवक उनके उदार उपदेशों को सुन कर सन्तुष्ट होते थे और वृद्ध उनकी शास्त्र चर्चा को सुन कर अपने को बड़भागी मानते थे। इसी कारण वे सर्वप्रिय थे। सभी उन्हें भक्ति और कृतज्ञता की दृष्टि से देखते थे। जगन्नाथ के बाप दादों की सम्पत्ति में केवल एक पीतल का लोटा, दस बीघा ज़मीन और एक झोपड़ी मात्र थी। परन्तु जगन्नाथ ने अपनी शक्ति और अपने विद्या बल से कई लाख रुपये और चार हज़ार वार्षिक आय वाली ज़मीन छोड़ कर शरीर त्याग किया। आज तक उनकी पीढ़ियों की पीढ़ियां इस सम्पत्ति को भोगती चली आ रही हैं।

असाधारण पाण्डित्य के साथ ही जगन्नाथ तर्कपचानन का धार्मिक ज्ञान भी असाधारण था। इसी कारण वे सभी के विश्वास पात्र थे। विद्या, धर्म, ज्ञान और स्वावलम्बन सब एक स्थान पर हों तो मनुष्य की कैसी उन्नति हो सकती है, यह जगन्नाथ के जीवन चरित्र से साफ़ साफ़ प्रकट होता

है। संसार में जब तक विद्या का मान होगा, जब तक धर्म का ज्ञान अचल रहेगा, जब तक स्वावलम्बन उन्नति का एक सब से बढ़ कर उपाय समझा जायगा तब तक अपनी आत्मावलम्बन शक्ति से उन्नत हुए इन जगन्नाथ तर्कपंचानन का नाम कभी नाश न होगा।

टाम्स जेकिन्स ।

टाम्स जेकिंस अफ़रीका के एक राजा का राजकुमार था। उसकी सूरत शकल हबशियों की सी थी। उसका पिता बहुवायन गिनी के किनारे के लिटिल केप माउन्ट नामक स्थान तथा इसके आसपास के प्रदेश का अधिपति था। अंग्रेज़ लोग इस किनारे मे गुलामों के लेने के लिये हमेशा आया करते थे। हबशियों के राजा का शरीर कुछ विचित्र रूप रंग का था। इस कारण अंग्रेज़ लोग उसे कुत्ते की आंखों वाला कह कर पुकारते थे। यूरोप के लोग सुधार और विद्या के प्रभाव से हबशियों से व्यापार आदि में बहुत चढ़े बढ़े थे। यह देख कर राजा ने अपने बड़े लड़के को विद्याभ्यास के लिये विलायत भेजना निश्चय किया। स्काटलैंड के हाउमिक नगर के कप्तान स्वानस्टन इस किनारे मे आकर यहाँ से हाथी दांत और सोने की डलियाँ वगैरः ख़रीद ले जाते थे। हबशी राजा ने उनसे यह बात पक्की की कि यदि तुम मेरे लड़के को अपने देश में ले जाकर थोड़े वर्षों में विद्वान् बना लाओगे तो मैं तुम्हारे व्यापार का अच्छा प्रबन्ध कर दूंगा।

यह लड़का जिस मतलब से और जिस प्रकार स्वानस्टन के हाथों में सौंपा गया था, वह इसके अन्तःकरण में

कुछ २ प्रकट था। जाने के दिन इसके माता पिता और अन्य कितने ही हवशी समुद्र के किनारे खड़े थे। उन्होंने नियमानुसार जहाज़ के व्यापारियों के हाथ इसे सौंपा। इसकी माता रोने लगी। स्वानस्टन ने अपने धर्म को साक्षी देकर स्वीकार किया कि तुम्हारे लड़के को जहां तक मुझ से बनेगा अच्छी तरह से पढ़ा लिखा कर कुछ वर्षों में तुम्हारे पास वापस पहुंचा जाऊंगा। स्वानस्टन ने ही अपनी इच्छा के अनुसार उस लड़के का नाम टाम्स जेकिन्स रक्खा।

स्वानस्टन ने जेकिंस को हाउमिक में ले जाकर अपनी प्रतिज्ञा के पालन करने का यथोचित उपाय किया; परन्तु किसी कारणवश जेकिन्स का पढ़ना लिखना तो दूर रहा, भोजन वस्त्र तक की भी तंगी होने लगी। वात यह हुई कि हाउमिक की टोन नामक एक सराय की एक कोठरी में स्वानस्टन ने बड़े कष्ट से प्राण त्याग किया। जेकिन्स ने स्काटलैंड के घोर शीतकाल में अत्यन्त दुखी होने पर भी अपनी शक्ति भर स्वानस्टन की सेवा में कोई कसर नहीं की। उसकी मृत्यु के वाद जेकिन्स ने अनेक कष्ट भोगे। सराय की मालकिन मिसेस ब्राउन उसे रसोई घर में ले गई। सारे घर में एक यही स्थान जेकिन्स के लिए सुखदाई प्रतीत हुआ। मिसेस ब्राउन की इस दया का वह जन्म भर स्मरण करता रहा।

जेकिन्स इस सराय में कुछ दिनों तक रहा। इसके अनन्तर स्वानस्टन का एक रिश्तेदार अपने टिपियटहेड नामक ग्राम में उसे ले गया। वह वहां का एक किसान था। जेकिंस के पालन पोषण आदि का सब भार उसने अपने ही ऊपर लिया। उस व्यक्ति ने उसे सुअर, हंस और मुर्गियों की रक्षा

के काम में नियुक्त किया । सराय छोड़ते समय जेकिन्स अंग्रेज़ी का एक शब्द भी नहीं समझ सकता था, परन्तु वहाँ जाकर उसने शीघ्र ही प्रचलित भाषा का शुद्ध बोलना सीख लिया । स्वानस्टन के घर में वह कितने ही वर्षों तक रहा । यहां उसने कुछ दिनों तक पशुओं की रक्षा का काम किया । इसके अनन्तर घास की गाड़ी भर कर वह हाउमिक में उसे बेचने लेजाता था । इस काम को वह इतनी अच्छी तरह से करता कि उसका संरक्षक उस पर अत्यन्त प्रसन्न रहता था ।

जेकिन्स के कुछ और बड़े होने पर फलनास नामक स्थान का रहने वाला लेडलर नामक एक मनुष्य बिना किसी कारण के ही उस पर अत्यन्त प्रसन्न होगया । उसने स्वानस्टन के रिश्तेदार से जेकिन्स को अपने यहां ले जाने की प्रार्थना की । जेकिन्स फलनास में आकर काम करने लगा । वह पशुओं की रक्षा का और खेतों की रखवाली का काम करता था । थोड़े ही समय में वह प्रत्येक काम में दक्ष होगया । उसका मुख्य काम यह था कि सब तरह की ख़बरें हाउमिक पहुंचाना । कुशाग्र बुद्धि होने के कारण इसके सिवा लेडला का वह एक चतुर कृषक था । इसी समय पढ़ने लिखने में भी उसका खूब चित्त लग गया । उसने पहले पहल किस प्रकार से पढ़ना लिखना सीखा, यह मालूम नहीं । पर अनुमान होता है कि पढ़ने लिखने की उसने अपने लिए पूरी आवश्यकता समझी । पिता की इच्छा पूर्ण करने के लिए वह बड़ा उत्सुक था । अतएव सम्भव है कि उसने पहले पहल लेडला के लड़कों अथवा घर की दासियों से ही पढ़ना लिखना सीखा हो ।

लेडला ने थोड़े समय बाद ही जेकिन्स को सब काम पूरा करके जल्दी से बत्ती हाथ में लिए हुए घर की ओर जाते देख कर बड़ा आश्चर्य किया। जेकिन्स अपने सामने किसी को आते हुए देख कर शीघ्र ही अपनी रखवाली की झोपड़ी में कुछ छिपा दिया करता था। उसका यह काम देख कर सब लोगों को कई तरह का सन्देह होने लगा। वे सोचने लगे कि यह झोपड़ी में क्या छिपाता है। अस्तु। एक दिन कुछ आदमियों ने जेकिन्स की झोपड़ी में जाकर देखा तो वह पुस्तक और स्लेट लिये हुए अक्षरों के लिखने का अभ्यास कर रहा था। उन लोगों ने उस ग़रीब बालक का यह काम देख कर बड़ा आश्चर्य किया। साथ ही उन लोगों ने यह भी देखा कि जेकिन्स के पास एक पुरानी बाँसुरी भी पड़ी हुई है। यही कारण था कि लेडला के अस्तबल के घोड़े रात को अधिक नींद न ले सकने के कारण दुबले हो रहे थे।

लेडला ने विद्याभ्यास में जेकिन्स का यह प्रेम देख कर उसे समीप की एक रात्रि पाठशाला में पढ़ने के लिये जाने की आज्ञा दे दी। उसने वहां जाकर थोड़े ही दिनों में इतना विद्याभ्यास कर लिया कि ग्राम के सब लोग सुन कर आश्चर्य करने लगे। अंग्रेज़ लोगों का विश्वास था कि हवशी लोग कभी विद्या नही सीख सकते, पर जेकिन्स का यह हाल देख कर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। यद्यपि लेडला के खेतों में जेकिन्स को छोटे मोटे कामों के लिए बहुत समय बिताना पड़ता था तथापि फ़ुरसत मिलते ही वह बिना किसी की सहायता के ग्रीक और लैटिन भाषा का अध्ययन करता रहता।

एक लड़के के साथ उसकी मित्रता हो गई थी। वह लड़का उसे पढ़ने के लिए ग्रीक और लैटिन भाषा की पुस्तकें दिया करता था। लेडला के घर के प्रायः सभी मनुष्य जेकिंस के पठन पाठन में यथाशक्ति सहायता देते थे। पर, समीप में ग्रीक और लैटिन भाषा का कोई स्कूल न होने से इन भाषाओं के अच्छी तरह से सिखलाने का बन्दोबस्त वे नहीं कर सकते थे।

कई बार देखा गया था कि जेकिंस लेडला के घर के स्त्री पुरुषों के उत्तम वर्ताव का वर्णन करते २ कृतज्ञता से रोमाञ्चित होजाता था। उस समय उसकी आंखों से आँसुओं की धारा बहने लगती थी। अस्तु, जेकिंस ने थोड़े ही दिनों में ग्रीक और लैटिन भाषा का अभ्यास एक प्रकार से पूरा कर लिया। इसके अनन्तर वह गणित सीखने लगा।

उसने ग्रीक भाषा का जो कोष खरीदा था, उसने उसके चरित्र निर्माण मे एक बड़ा कार्य किया। हाउमिक में कुछ पुस्तकें नीलाम होने वाली थीं, यह सुन कर वह अपने साथियों के साथ वहां पहुंचा। जेकिंस ख़र्च के लिये जो कुछ पाता था उसमें से उसने ६) रुपये इकट्ठे कर रक्खे थे। उसके एक साथी ने भी उससे कह रखा था कि यदि पुस्तक खरीदने के लिए कुछ अधिक दामों की ज़रूरत पड़ेगी तो मेरे पास बारह आने हैं, मैं तुम्हें दे दूंगा। इस समय ग्रीक और लैटिन भाषा के अभ्यास के लिये उनके कोष की जेकिन्स को बड़ी आवश्यकता थी। नीलाम के समय अपने साथी के साथ जेकिंस उसी कोष को ख़रीदने को तैयार हुआ। जो पुस्तक एक अच्छे विद्यार्थी के लेने योग्य थी, उसे

एक हीन वेष हब्शी ले रहा है, यह देखकर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ।

जेकिन्स के साथी के साथ मनक्रिफ नामक एक मनुष्य की जान पहचान थी। उसने इशारे से उसे बुलाकर बड़े आश्चर्य के साथ इस अद्भुत मामले की बात पूछी। उस लड़के ने सब बातें ज्यों की त्यों उससे कह दी। यह सुन कर मनक्रिफ ने कहा कि तुम्हारे पास केवल छः रुपये बारह आने हैं। जहां तक तुम्हारी इच्छा हो बोली बढ़ाते जाना। बाकी जो कुछ देना पड़ेगा, उसके लिए मैं जिम्मेदार हूं।

जेकिंस को मनक्रिफ की बात का कुछ भी पता नही था। अतएव उसने जो कुछ उसके पास था, उसे बोली में लगा दिया। अन्त में वह निराश और दुखी होकर चुप रह गया। यह देखकर उसका साथी और बढ़ाने लगा। ग़रीब हबशी बालक अपने साथी की इस बात पर व्याकुल होकर उससे कहने लगा—"मित्र, तुम यह क्या कर रहे हो। तुम्हें तो मालूम है कि हम लोगों के पास केवल ६।।।) हैं। हमें यहां कोई कर्ज़ भी नही दे सकता।" पर उसके साथी ने उसकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया। वह आगे बढ़ाता ही गया। अन्त में उसने पुस्तक ख़रीद कर जेकिन्स के हाथ में दे दी। पुस्तक पाते ही जेकिंस बड़ा प्रसन्न हुआ। उसके मित्र को इस में केवल आठ आने ही देने पड़े थे। जेकिंस आनन्द के सागर में गोते लगाता हुआ पुस्तक लेकर घर पहुंचा। इसके अनन्तर उसने उस पुस्तक का कैसा उपयोग किया, उसके कहने की कुछ आवश्यकता नहीं।

अब इस बात के जानने की आवश्यकता पड़ेगी कि हबशी जाति के मुकुट इस आदर्श बालक का स्वभाव और चालचलन कैसा था। इसके सम्बन्ध में इतना ही कहना काफी होगा कि जितना उत्तम स्वभाव और चरित्र मनुष्य का होना चाहिये, इसका उतना ही उत्तम था। जेकिन्स स्वभाव से बड़ा नम्र, अहङ्काररहित और बुरे कामों से डरने वाला था। उसका आचरण इतना सौजन्यपूर्ण था, कि जिसका एक बार भी उसके साथ परिचय हो गया, वह सदा ही उस पर स्नेह और कृपा करता रहा। वह अपने प्रान्त भर में मनुष्यों का मनोरंजन करने वाला प्रसिद्ध था।

अपने कामों में वह कभी आलस्य नहीं करता था। कभी उदास भी नहीं होता था। इसी कारण उसके संरक्षक उस पर बहुत प्रसन्न रहते थे। ज्ञान प्राप्त करने में उसका अत्यन्त उत्साह देखकर वे उस पर और भी मुग्ध होते थे। वह अँग्रेज़ी भाषा में इतना निपुण हो गया था कि स्काटलेण्ड के दक्षिण भाग में साधारण कृषकों से किसी बात में कम न था। केवल उसके शरीर की बनावट से ही वह उन लोगों से भिन्न मालूम होता था। किसानों से विद्या में वह अधिक बढ़ाचढ़ा था। वह अपना समय अधिक करके विद्या के ही अनुशीलन में बिताता था। धर्म पर उसका पूरा विश्वास था और धर्म सम्बन्धी हर एक नियमों के पालन में वह बहुत ही प्रयत्न-वान था। इन सब बातों पर विचार करने से मालूम होता है कि जेकिन्स बहुत ही उत्तम उपादानों से बना था। विद्या के लिए तो वह बहुत ही अधिक प्रयत्न करता था।

इन्हीं कारणों से वह सब जगह सम्मान और आदर पाता था।

जेकिन्स की उम्र जब २० वर्ष की हुई तब टिवियटहेड की पाठशाला के अध्यापक की जगह खाली होगई। यह पाठशाला किसानों के लड़कों को शिक्षा देने वाली एक पाठशाला की शाखा थी। जेटवर्ग के पादरियों पर इसके प्रबन्ध का भार था। उन्होंने एक विज्ञापन दिया कि जिस किसी को नौकरी करने की इच्छा हो, वह हाउमिक में आकर अमुक स्थान पर परीक्षा दे। जो उस में पास होगा उसी को अध्यापकी की जगह दी जायगी। परीक्षा के दिन फलनास के खेतों में काम करने वाला यह किसान भी पुस्तकों को बगल में दबा कर अत्यन्त हीन वेश से वहां जा पहुंचा और परीक्षा देने को आज्ञा माँगी। परीक्षा लेने वाले एक हबशी को परीक्षा देने के लिए तैयार हुआ देख कर आश्चर्य करने लगे। पर उसके स्वभाव, चाल चलन और विद्या आदि के सम्बन्ध में प्रशंसापत्रों को देखकर वे लोग अन्य परीक्षा देने वालों के साथ उसकी भी परीक्षा लेने को राज़ी होगये। वे उसकी परीक्षा लेने से इन्कार न कर सके। जेकिन्स परीक्षा में सभी उम्मेदवारों से बढ़कर निकला। परीक्षकों ने उसे सब से योग्य समझ कर अपने अधिकारियों को लिख भेजा कि जेकिन्स सबों से योग्य निकला। उस को यह बात जान कर बड़ा ही हर्ष हुआ। उसने सोचा कि जो काम अब मुझे मिलेगा, वह पहले के सब कामों से उत्तम है। उसमें मुझे विद्याभ्यास का भी अच्छा अवसर मिलेगा।

पर, थोड़े समय के लिए जेकिन्स की यह आशा धूल में मिल गई। परीक्षा लेने वालों का पत्र पादरियों के पास पहुँचा।

बहुत से पादरी एक हबशी की अध्यापनकार्य में नियुक्ति के विरुद्ध हो गये। अतएव एक दूसरा मनुष्य उस पर रक्खा गया। जेकिन्स परीक्षा के सब फलों से वञ्चित होकर बड़ा दुखी हुआ। वह सोचने लगा कि उसकी यह दुरवस्था उसकी जाति और उसकी अवस्था के हीन होने के कारण हुई है। पर पादरियों के अन्याय से जो कुछ दुख और विषाद उसे प्राप्त हुआ, उससे कहीं अधिक दुख और विषाद दूसरे लोगों को हुआ। वे सब लोग बड़ा पश्चात्ताप करने लगे।

इसके अनतर ड्यूक आफ वार्कल्यू आदि जमींदारों ने विशेष रूप से उद्यत होकर निश्चय किया कि परीक्षा में पास होने वाले जेकिन्स को अवश्य नौकरी दिलानी चाहिये और आज तक पादरी लोग अध्यापक को जो वेतन देते आये हैं वही इसे भी मिलना चाहिये। इसके अनन्तर शीघ्र ही एक कुम्हार के पुराने घर में स्थान नियत करके उन्होंने जेकिन्स को शिक्षक के काम पर नियुक्त किया। यह देख कर गांव के सभी बालक और उनके माता पिता बड़े सतुष्ट हुए। थोड़े ही समय में सब लडके पहली पाठशाला को छोड़ कर जेकिन्स की पाठशाला में आगये। जेकिन्स थोड़े ही समय पहले विद्यार्थी बनकर स्वयं पढ़ने जाता था, पर आज वही थोड़े ही समय में अध्यापक का काम करने लगा। इस समय उसे इतना वेतन मिलने लगा कि उससे वह अपने आवश्यक खर्च करके कुछ बचा भी लेता था।

वह शीघ्र ही एक उत्तम शिक्षक हो गया। यह देखकर उसके मित्रों के आनन्द की सीमा न रही। उसके विपक्षी पाद-रियों का मुँह फीका पड़ गया। वह शिक्षा देने की बहुत उत्तम रीति जानता था। वह किसी प्रकार की कठोरता नहीं

दिखलाता था। केवल होशियारी से काम करता था। अपने विद्यार्थियों का वह बहुत ही प्यारा हो गया था। वे उसे बड़े सन्मान की दृष्टि से देखते थे। सप्ताह में वह पांच दिन पाठशाला में काम करता था और शेष दिनों में जो कुछ वह स्वयं सीखता था प्रति शनिवार को बिना नागा हाउमिक में आकर वहां के विद्यालय के अध्यापक के समाने उसकी परीक्षा दे आता था। इससे मालूम होता है कि शिक्षक हो जाने पर भी उसने अपने अभ्यास में कोई कमी नहीं की और न किसी प्रकार से निरुत्साह हुआ।

इस प्रकार दो वर्ष तक वह पाठशाला में काम करता रहा। इतने ही समय में उसने दो सौ रुपया इकट्ठा कर लिया। इसके अनंतर उसने अपनी जगह पर एक दूसरे मनुष्य को रख कर जाड़े के महीनों में किसी बड़े विद्यालय में रह कर लेटिन, ग्रीक और गणित आदि अच्छी तरह से सीखने की इच्छा प्रकट की। पाठशाला के अधिकारी उसे बड़े प्रेम की दृष्टि से देखते थे। अतएव उन्होंने बड़ी खुशी के साथ उसे ऐसा करने की आज्ञा दे दी। उस समय वह अच्छी सलाह लेने के लिए अपने दयालु मित्र मनक्रिफ के पास गया। इस दयावान सज्जन ने ग्रीक भाषा के कोष ख़रीदते समय उसे सहायता दी थी, इसके बाद भी उसने कई वार उसका भला किया था।

मनक्रिफ जानपहचान होने के दिन से ही जेकिन्स को एक अद्भुत मनुष्य समझता था। इस समय उसके सुन्दर विचार सुन कर उसे और भी आश्चर्य हुआ। सब से पहले उसने जेकिन्स से ख़र्च के बारे में पूछा। जेकिन्स ने विस्तारपूर्वक सब कुछ कह सुनाया। मनक्रिफ ने जेकिन्स से कहा, सुनो

जेकिंस, इससे तुम्हारी इच्छा किसी प्रकार पूरी नहीं हो सकती। तुमने जो कुछ इकट्ठा किया है उस से पूरा पड़ना कठिन है। यह सुन कर जेकिंस बड़ा दुखी हुआ। पर, इस दयालु मित्र ने उसका दुख दूर करने के लिए उसके हाथ में एक कागज़ देकर कहा कि इस कागज़ में एडिनबरा के एक व्यापारी को लिखा गया है कि तुम्हें जो कुछ ज़रूरत पड़ें, वह उससे लो। मेरी तुम से यही प्रार्थना है कि जब तुम्हें कुछ ज़रूरत पड़े तब उससे अवश्य ले लेना।

यह सुन कर जेकिंस बड़ा ही आनन्दित हुआ। वह शीघ्र ही एडिनबरा जा पहुंचा। वहां जाकर उसने लेटिन भाषा के अध्यापक से उनकी कक्षा में भरती होने के लिए परीक्षा लेने की प्रार्थना की। वे उसकी तरफ देख कर थोड़ी देर तक चकित से रह गये। इसके अनन्तर उन्होंने पूछा कि, तुमने लेटिन में कुछ अभ्यास किया है या नहीं? जेकिंस ने नम्र भाव से उत्तर दिया कि, मैंने बहुत समय तक इस भाषा का अभ्यास किया है। अब इसका पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिये यहाँ आया हूं। अध्यापक ने जेकिंस से कहा कि, मैंने निश्चय कर लिया है कि शीघ्र ही तुम्हें भरती होने का फार्म दूँ, साथ ही, तुम से कोई फीस भी न लूँगा।

इसके अनन्तर जेकिंस ने अन्य दो अध्यापकों से भी यही प्रार्थना की। वे दोनों भी बड़ा आश्चर्य करने लगे। अन्त में उन्हों ने भी अपनी शिष्यमण्डली में उसे शामिल कर लिया। उनमें से एक ने फीस ली। इस प्रकार जेकिंस तीन कक्षाओं में भरती हो कर जाड़े के कितने ही महीनों तक वहाँ अध्ययन करता रहा और अन्त में अपनी इच्छानुसार अध्ययन समाप्त किया। उसे वहाँ रहते समय मनक्रिफ के उस पत्र का विशेष

सहारा लेना पड़ा। बसंत काल आने पर वह पुनः टिवियटहेड लौट आया और पहले की तरह नियमित रूप से पाठशाला का अध्यापनकार्य करने लगा।

इस अद्भुत वृत्तान्त का अन्तिम भाग जिस प्रकार से समाप्त हुआ है, वह संभव है सभी के लिए मनोरंजक न हो। यदि संसार का हित चाहने वाले लोगों की सहायता से जेंकिस अपने देशको लौटा दिया जाता तो अच्छा होता। ऐसा होने पर उसके पिता की प्रजा का बहुत कुछ सुधार होता और उसके पिता की आत्मा संतुष्ट होती।

आज से लगभग ७० वर्ष पहले जेंकिस के एक हितैषी पड़ोसी ने अच्छे अभिप्राय के वश होकर उसे टापुओं में ईसाई धर्म का उपदेश देने के लिए नियुक्त करने की, ईसाई-धर्म प्रचारक मण्डली से, प्रार्थना की। इस मण्डली के अधिकारियों ने जेंकिस को राज़ी करके उस पर उपदेशक का भार सौंपा और इसी काम के लिए उसे माहेशय द्वीप को भेज दिया। पर, यह काम उस के लिए किसी प्रकार योग्य नहीं हुआ।